आर्यसमाज

लेखक एवं प्रकाशक

धर्मपाल कपूर

बी०ए० ऑनर्स, एम०ए०

कोठी नं. 1135, सैक्टर 11,
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
फोन : 0172-2567845

संस्करण : 2017
प्रतियाँ : 1000

धर्मपाल कपूर
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135, सैक्टर 11,
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 9356301618

टंकण एवं साजसज्जा : **अभिनव इंटरप्राइजिज, मो. 94683 40497**
मुद्रक : **यू०आर०बी० प्रिंटिंग प्रैस, शैड नं. 2, रतपुर कॉलोनी, पिंजौर, मो. 9466111730, 9466112730**

दो शब्द

मेरी प्रिय आत्माओ !

मैं आप से निवेदन करता हूँ कि 1942 ई० से मैं आर्य समाज से जुड़ा हुआ हूँ। इस लम्बे समय में मैंने अनेक शास्त्रार्थ महार्थियों, विद्वानों, भजनोपदेशकों के केवल प्रवचन एवं भजन ही नहीं सुने अपितु उनसे अनेक शंकासमाधान भी किये हैं। मैंने यहाँ आकर पाया कि आर्यसमाज एक धार्मिक एवं चरित्र निर्माण संस्था है और इसका मुख्योद्देश्य सारे संसार को आर्य बनाना है। अतः मैंने प्रस्तुत पुस्तक में आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानंद, इसके 10 नियम, संगठन, आर्यसमाज के मुख्य सिद्धान्तों व मान्यताओं, इसके मुख्य हुतात्माओं, उपलब्धियों आदि अनेक विषयों पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाला है। विदेशों में आर्यसमाज के कारण हुई प्रगति का अवलोकन इस पुस्तक में किया है। पुस्तक के आरम्भ में वैदिक साहित्य तथा वेदानुकूल शास्त्रों का संक्षिप्त परिचय भी दिया है तथा आर्यसमाज के भविष्य को उजागर करने का एक प्रयास किया है। इस पुस्तक का अध्ययन करके एक साधारण पाठक को भी आर्यसमाज के विषय सार रूप में काफी जानकारी हो जायेगी। अतः मैं पाठकों से निवेदन करता हूँ कि आर्यसमाज की जानकारी के लिये इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें।

प्रस्तुत पुस्तक को लिखने में मुझे सर्वश्री लालचंद चौहान, रोशन लाल अग्रवाल, जय किशन, नरेश बंसल आदि ने सहयोग प्रदान किया है। अतः इनका स्तवन न करना मेरी कृतघ्नता होगी। विशेषतः लालचन्द चौहान ने इस पुस्तक के सम्पादन में विशेष योगदान दिया है। मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि उनके बिना प्रस्तुत पुस्तक का वर्तमान रूप में संयोजन न हो पाता। मैं उन लेखकों एवं कृतिकर्ताओं का भी अत्यन्त धन्यवादी हूँ

जिनकी कृतियों से सदंर्भ उद्धृत किये गये हैं । जिस अचिंत्य शक्ति प्रभु की असीम अनुकम्पा से मैं अपने संकल्प को मूर्तरूप दे सका उसका भी कोटि-कोटि धन्यवाद करता हूँ ।

मैंने प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में पूर्ण सावधानी बरती है । परन्तु संसार का प्रत्येक व्यक्ति अल्पज्ञ और अपूर्ण है । अतः यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो पाठकगण से क्षमा चाहूँगा ।

धर्म पाल कपूर

तिथि : 18.11.2016

(**धर्मपाल कपूर**)
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135, सैक्टर 11,
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 0-9356301618

प्रस्तावना

श्री धर्मपाल कपूर का 'आर्यसमाज' पुस्तक का संकलन एवं लेखन कार्य बड़े ही गहन परिश्रम व स्वाध्याय का द्योतक है। इससे पूर्व वे अनेक पुस्तकों का लेखन व प्रकाशन कार्य कर चुके हैं। इस पुस्तक में उनके द्वारा आर्यसमाज के सम्बन्ध में व आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द के विषय में व आर्यसमाज की स्थापना की महर्षि को क्यों आवश्यकता पड़ी? आर्यसमाज की गतिविधियाँ क्या हैं? आदि का वर्णन किया गया है।

आर्यसमाज से पूर्व देश की स्थिति–

1857 ई० में प्रलयकारी अंग्रेज़ी दमन के पश्चात् चारों ओर उदासी, हताशा, निराशा छाई हुई थी। धर्म के नाम पर पाखण्ड, ज्ञान के नाम पर अज्ञान और सत्य के नाम पर असत्य का साम्राज्य था। संसार वेदों को भूल चुका था, वेद के संबंध में अज्ञानियों ने अनेक भ्रान्तियाँ फैला रखी थी। पुराण, क़ुरान, बाइबल आदि को ही धार्मिक पुस्तक माना जाता था।

आर्यसमाज की स्थापना–

महर्षि दयानन्द का जन्म 1824 ई० में गुजरात प्रांत के टंकारा में श्री किशन जी तिवारी के यहाँ हुआ। इनका बचपन का नाम मूलशंकर था। महर्षि दयानन्द ने मथुरा में गुरु विरजानन्द के आश्रम में व्याकरण दर्शन आदि की शिक्षा प्राप्त की। गुरु विरजानन्द द्वारा महर्षि दयानन्द को वेदविद्या का प्रचार करने व देश में पनप रहे पाखण्ड को समाप्त करने के लिये जीवन समर्पित करने को कहा। महर्षि दयानन्द ने अपने आपको सौभाग्यशाली मानते हुए गुरु को वचन दिया। महर्षि ने वेदप्रचार का कार्य आरम्भ किया और कुछ समय के बाद यह विचार किया कि इस कार्य के लिये एक नहीं अनेक प्रचारक चाहियें। पुराण, क़ुरान, बाइबल के प्रचार से फैले पाखण्डों के अत्याचारों के विरुद्ध लड़ाई को संगठित व स्थायित्व देने के लिए तथा देश की जनता में स्वतंत्रता की भावना का संचार करने व वेदज्ञान की ज्योति जगाने के लिये 10-4-1875 ई० को मुम्बई में 'आर्यसमाज' की स्थापना की। आर्यसमाज के दस नियम बनाये। वेद, ईश्वरीय ज्ञान, ईश्वर का सत्यस्वरूप, गुण-कर्म-स्वभाव के विषय में जानकारी दी गई है। ईश्वर के सत्यस्वरूप को भूलने के कारण ही धरती पर अज्ञान एवं पाखण्ड का विस्तार हुआ था।

ईश्वर के विषय में भ्रान्तियाँ–

किसी का ईश्वर चौथे आसमान पर, किसी का ईश्वर सातवें आसमान पर तथा किसी का मूर्ति में और किसी का कहीं। आर्यसमाज के द्वारा महर्षि ने बतलाया कि सारे ब्रह्माण्ड का एक ही ईश्वर है और वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, निराकार, अनादि, अजन्मा, अमर, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। महर्षि ने 'सत्यार्थप्रकाश' ग्रंथ के द्वारा सारे पाखण्ड की पोल खोल कर रख दी है। ईश्वर के सत्यस्वरूप और गुण-कर्म-स्वभाव को सबके सामने रखा है। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, शिव, महेश आदि सब ईश्वर के गुणात्मक नाम हैं।

आर्यसमाज का आधार वेद–

आर्यसमाज का आधार वेद ही क्यों? क्योंकि वेद ईश्वरीय ज्ञान है। कपिल ऋषि कहते हैं–वेदों को बनाने वाला कोई पुरुष नहीं हुआ, वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् वेद ज्ञान ईश्वरीय है एवं सृष्टि के आदि में ईश्वर ने चार ऋषियों अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा के हृदय में वेद ज्ञान प्रकट किया था। वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद स्वतः प्रमाण है अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

आर्यसमाज क्या है?

आर्यसमाज एक विचारशील एवं ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखने वाला बुद्धिजीवियों का संगठन है। आर्यसमाज पाखण्ड, बुराइयों के विरुद्ध आवाज़ उठाने वाला क्रान्तिकारी संगठन है। आर्यसमाज के दस नियम मानव निर्माण का संविधान है। यदि मनुष्य इन दस दियमों में से एक का भी पूर्ण रूप से पालन कर ले तो उसका जीवन सफल हो जाये।

आर्यसमाज के नियम–

प्रथम नियम सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है। प्रथम तीन नियमों में ईश्वर एवं वेद विषय का ज्ञान, चार से सात तक मानव निर्माण के सम्बन्ध में और 8 से 10 तक समाज के उत्थान एवं शारीरिक उन्नति के लिए हैं। मेरा ऐसा मानना है कि महर्षि दयानन्द ने इन दस नियमों में वेद आधारित मानव संविधान का संक्षिप्त परिचय दिया और ये दस नियम चार वेद व छः शास्त्रों का सार हैं। इन दस

नियमों में सम्पूर्णता है। इनको आचरण में लाने की आवश्यकता है। यह विश्व के मानव निर्माण के नियम हैं।

आर्यसमाज के सिद्धांत–

1. ईश्वर एक है, अनेक नहीं। ईश्वर अवतार नहीं लेता, निराकार है, उसकी कोई प्रतिमा नहीं बन सकती।

2. वेद ईश्वरीय ज्ञान स्वतः प्रमाण, अन्य प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं।

3. वेद सम्पूर्ण ईश्वरीय ज्ञान है। विद्या के अनन्त भण्डार हैं।

4. वेद में ज्ञान-विज्ञान, सृष्टि, उत्पत्ति, स्थिति का पूर्णत वर्णन है।

5. वेद में धनुर्विद्या तथा आयुर्वेद में रोगों के उपचार का पूर्ण वर्णन है।

6. मानवनिर्माण का उपदेश आदि सब विद्यायें वेद में हैं, वेद अनन्त विद्याओं के भण्डार हैं।

इस पुस्तक में जन्म से मृत्यु तक के 16 संस्कारों के विषय में संक्षिप्त वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त पढ़ने योग्य वैदिक साहित्य आर्ष ग्रंथों का उल्लेख किया गया है। जिन ग्रंथों को महर्षि दयानन्द ने पढ़ने-पढ़ाने के लिए उपयुक्त समझा है तथा अनार्ष ग्रंथ जो पढ़ने के योग्य नहीं है जिनमें सत्य कम असत्य अधिक है, इससे मनुष्य को सत्य असत्य का निर्णय कर पाना कठिन होता है। उनको वर्जित माना है।

आर्यसमाज के प्रमुख हुतात्मा–

महर्षि दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा हंसराज, पंडित लेखराम आदि उपदेशकों के भाषणों का श्रोताओं पर जादू का सा प्रभाव पड़ता था, क्योंकि उनमें आत्मबल था। उनके वचन सत्य थे। करनी कथनी एक थी।

आर्यसमाज की उपलब्धियाँ–

आर्यसमाज ने लुप्त वेदविद्या का पुनः प्रचार किया, वेदों के विषय में अज्ञानियों ने जो भ्रान्तियाँ उत्पन्न कर रखी थी, उनको दूर किया। विद्या के प्रकाश से अविद्या को दूर किया और पाखण्ड, अन्धविश्वास, जादू, टोना, फलित ज्योतिष के अन्धविश्वास को ज्ञान के द्वारा दूर करने का भरसक प्रयत्न किया। स्त्री जाति को वेद पढ़ने व सामाजिक कार्यों में भाग लेने का अधिकार न था। महर्षि ने स्त्रियों को उनका समानता का अधिकार दिलाया और स्त्री को जगत् जननी बतलाया। बाल विवाह, सती प्रथा, बेमेल विवाह को बंद

करवाया। आर्यसमाज का देश की स्वतन्त्रता में सबसे बड़ा योगदान रहा है। आज़ादी के संग्राम में 80% आर्यसमाजी थे। देश से मांस, शराब आदि बुराइयों के विषय में लोगों में जागरुकता पैदा की। आर्यसमाज कोई सम्प्रदाय अथवा पंथ नहीं है। यह वेदानुकूल आचरण करने पर बल देता है, क्योंकि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है और वेदज्ञान के बिना मनुष्य सत्य-असत्य, पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा, धर्म-अधर्म में भेद नहीं कर सकता।

हमारे पूर्वज ऋषि, मुनि, राजे-महाराजे सब वेद पढ़ा करते थे। श्रीराम वेदों के ज्ञाता थे। रावण चारों वेदों का प्रकाण्ड पंडित था, परन्तु वेदानुकूल आचरण नहीं करता था, और जो वेदानुकूल आचरण नहीं करता उसकी वृत्ति राक्षस जैसी होती है, जैसे रावण की थी। इसलिये तो महर्षि ने आर्यसमाज को वेद प्रचार के लिये स्थापित किया था ताकि लोग वेद को पढ़ सुन कर, वेद मार्ग पर चल कर अपने जीवन को सुखमय व उन्नतिशील बनाये, जिससे दारिद्रता, अज्ञानता, अविद्या, दुःख दूर हो और लोग सुख, शान्ति का जीवन यापन कर सकें।

श्रीकृष्ण महाराज वेदों के ज्ञाता, महायोगेश्वर, राजनीतिज्ञ बलवान् योद्धा कुशल प्रशासक थे। लोग श्रीकृष्ण पर कीचड़ उछालते हैं कि कृष्ण माखन चोर थे जब कि नंद बाबा के यहाँ हज़ारों गाएं थी। राधा के साथ कृष्ण को जोड़ते हैं, जब कि श्रीकृष्ण जी की पत्नी रुक्मिणी थी। राधा उनकी मामी थी। लोग सत्य को जाने बग़ैर अश्लील पुस्तकों को पढ़ कर या सुन-सुना कर बिना बुद्धि से विचारे सत्य मान लेते हैं।

महर्षि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश के 11वें समुल्लास में श्री कृष्ण जी के विषय में लिखते हैं। देखो! श्रीकृष्ण जी का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है, जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्रीकृष्ण जी ने जन्म से मरणपर्यन्त बुरा काम भी किया हो, ऐसा नहीं लिखा और इस भागवत वाले ने अनुचित मनमाने दोष लगाये हैं। दूध, दही, मक्खन आदि की चोरी लगाई और कुब्जा दासी से समागम, परस्त्रियों से रासमण्डल क्रीड़ा आदि मिथ्या दोष श्री कृष्ण पर लगाये हैं। इसको पढ़-पढ़ा, सुन-सुना के अन्य मत वाले श्री कृष्ण की बहुत निन्दा करते हैं। जो यह भागवत न होता तो श्री कृष्ण के सदृश महात्माओं की झूठी निन्दा क्यों कर होती?

लोग श्री कृष्ण व श्रीराम को ईश्वर का अवतार मानकर उनकी प्रतिमाओं को पूजते हैं, आर्यसमाज इसका विरोध करता है? आर्यसमाज अवतारवाद को नहीं मानता क्योंकि वेद शास्त्रों में कहीं ईश्वर के अवतार लेने की बात नहीं लिखी है, इससे श्री कृष्ण, श्री राम आप्त पुरुष थे तभी उन्हें योगेश्वर और पुरुषोत्तम के नाम से जाना जाता है। सच्चाई से लोग परे हैं इसलिए पाखण्डियों का पाखण्ड दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। लोग पाखण्ड खरीद कर अपने अमूल्य जीवन को नरक बना रहे हैं।

तभी महर्षि दयानन्द ने कहा था–

लोगों को ज्ञान की जानकारी अर्थात् जड़ चेतन तत्त्व का ज्ञान न होने पर अज्ञानतावश अंधविश्वास और पाखण्ड के शिकार हो रहे थे, तभी महर्षि दयानन्द ने कहा, जो उन्नति करना चाहो तो आर्यसमाज के साथ मिलकर उसके उद्देश्यानुसार आचरण करना स्वीकार कीजिये नहीं तो कुछ हाथ नहीं लगेगा। क्योंकि हम और आप को उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है आगे भी होगा, उसकी उन्नति तन-मन-धन से सब जने मिल कर प्रीति से करें। इसलिये जैसा आर्यसमाज आर्यावर्त्त देश की उन्नति का कारण है वैसा दूसरा नहीं हो सकता। यदि इस समाज को यथावत् सहायता देवें तो बहुत अच्छी बात है।

मेरा यह अपना व्यक्तिगत मानना है कि इस पुस्तक के पढ़ने से लोगों को आर्यसमाज व आर्यसमाज की गतिविधियों, आर्यसमाज की मान्यताओं की जानकारी प्राप्त होगी। विश्वकल्याण की भावनाओं, विश्व की उन्नति का एक उपाय वेदज्ञान जिस पर चल कर विश्व की उन्नति और सुख शान्ति का वातावरण कायम हो सकता है। श्री धर्मपाल कपूर जी पुस्तकों के माध्यम से लोगों तक सच्चाई को पहुँचाने का अथक प्रयत्न कर रहे हैं। ईश्वर उनको दीर्घ आयु प्रदान करें। यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

लालचन्द चौहान
से.नि. राज्य विकास अधिकारी,
कोठी नं. 591/12, पंचकूला
फोन 0172-2563079
मो. 9814881501

विशेष सूचना

1. स्वाध्याय, मनन और आत्मसात् ।
2. पाठकगण पुस्तक पढ़ने के पश्चात् किसी भी स्वाध्यायशील मित्र को इसे देने की कृपा करें ।
3. कोई भी जिज्ञासु अपनी इच्छानुसार इसकी प्रतियाँ फोटोस्टेट करवा कर स्वाध्यायशील मित्रों में प्रचार-प्रसार के लिये बाँट सकता है ।
4. पुस्तक केवल प्रचारार्थ लिखी गई है और सदुपयोग ही इसका मूल्य है ।
5. सर्वाधिकार लेखकाधीन ।

धर्मपाल कपूर
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135, सैक्टर 11,
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
फोन : 0172-2567845
मो० : 0-9356301618

विषयसूची

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ
1.	आर्यसमाज और उसका उद्देश्य	1
2.	आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानंद	3
3.	आर्यसमाज के दस नियम	20
4.	आर्यसमाज का संगठन	84
5.	आर्यसमाज के मुख्य सिद्धांत एवं मान्यतायें	88
	(1) वैदिक साहित्य	88
	(2) 16 संस्कार	91
	(3) त्रैतवाद	92
	(4) पुनर्जन्म	101
	(5) पंचमहायज्ञ	114
	(6) कर्मसिद्धांत	116
	(7) वर्ण व आश्रम व्यवस्था	118
	(8) भक्ष्य-अभक्ष्य	119
	(9) मूर्तिपूजा की अमान्यता	121
	(10) अवतारवाद की अमान्यता	122
	(11) आर्यसमाज का शुद्धि आन्दोलन	124
	(12) भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद का समन्वय	126
6.	आर्यसमाज के मुख्य हुतात्मा	127
7.	आर्यसमाज की उपलब्धियाँ	132
8.	विदेशों में आर्यसमाज	134
9.	आर्यसमाज में सुधार के मुख्य उपाय	139
10.	आर्यसमाज का भविष्य	142

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

1. आर्यसमाज

आर्यसमाज है सब से सुन्दर, सब से प्यारा।
जग को आर्य बनाना ही है उसका नारा।। —संजीव आर्य

महर्षि दयानंद के जन्म से पूर्व भारत वर्ष में चारों ओर अंधविश्वास, पाखण्ड आदि बुराइयाँ फैली हुई थीं। उस समय की जनता शिक्षा, तर्कशक्ति और वैदिक साहित्य को भूल चुकी थी। देश में भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्प्रदायों ने अपनी जड़ें फैला रखी थी। नारी जाति की दशा अत्यंत शोचनीय थी। जनता एक ईश्वरवाद को भूल कर मूर्तिपूजा करने लग गई थी। ब्राह्मण वर्ग भी पतित हो चुका था। जन्म से ही वर्ण-व्यवस्था विकसित होने लगी थी। सत्य अर्थों में धर्म एवं ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्रायः लुप्त हो चुका था। महर्षि दयानंद ने पूरे भारत का भ्रमण करके जनता को इन कुरीतियों में पिसते हुए देखा था। ऋषि का करुण हृदय यह सब देख कर द्रवित हो उठा। अतः उन्होंने इन सब कुरीतियों एवं पाखण्डों को मिटाने के लिये और जनता को वेद संदेश देने के लिये आर्यसमाज की स्थापना की थी। आर्यसमाज क्या है—

वेदादि सत्य शास्त्रों पर आधारित एक सार्वभौम आर्य संगठन का नाम आर्यसमाज है।

आर्यसमाज का उद्देश्य—

आर्यसमाज की स्थापना का क्या उद्देश्य था? यह जानने से पूर्व आर्यसमाज के शाब्दिक अर्थ को जानना आवश्यक है। आर्यसमाज दो शब्दों से बनता है एक आर्य और दूसरा समाज। आर्य का अर्थ है श्रेष्ठ पुरुष और समाज का अर्थ है व्यक्तियों का समूह अर्थात् अच्छे आचरणयुक्त एवं ईश्वर में अटूट विश्वास रखने वाले व्यक्तियों का संगठन है। अतः आर्यसमाज का अर्थ हुआ श्रेष्ठ व्यक्तियों का समूह अर्थात् संगठन है। चाहे कोई वह व्यक्ति हिन्दू हो, सिक्ख हो, मुसलमान हो, अंग्रेज़ हो आदि। यहाँ तक कि महर्षि बाल्मीक द्वारा रचित रामायण एवं महर्षि व्यास द्वारा रचित महाभारत में

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम एवं योगिराज श्रीकृष्ण को आर्य कह कर सम्बोधित करते थे और इस देश का नाम भी आर्यावर्त्त था। अतः महर्षि अरविन्द घोष आर्य शब्द की परिभाषा करते हुए लिखते हैं–

The Arya is he who strives and overcomes all outside him or within him that stand opposed to the human advance. In everything, he seaks truth, in everything right and freedom.

–Arya Vol. P 61

आर्य वह है जो भीतर एवं बाहर की प्रत्येक बुराई से युद्ध करके उस पर विजय प्राप्त करता है। मानव की उन्नति में बाधक प्रत्येक बाधा से वह जूझता है। सर्वत्र सत्य, औचित्य व स्वतंत्रता की खोज करता है। ऋग्वेद में आर्यसमाज के मुख्योद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है –

कृण्वन्तो विश्वार्यम् –ऋ० 9.63.5

सारे संसार को आर्य बनाओ।

आर्य का अर्थ है श्रेष्ठ, नेक, पवित्र एवं धर्मात्मा पुरुष होता है। ऐसा पुरुष वही हो सकता है जिसका चरित्र वेदानुकूल हो।

2. आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानंद

महर्षि दयानंद का जन्म का नाम मूलशंकर था। कुल की मर्यादा के अनुसार बालक का जातकर्म-संस्कार जिह्वा पर स्वर्ण-श्लाका द्वारा मधु से 'ओ३म्' लिखकर किया गया। 5वें वर्ष में विद्यारम्भ समारोह किया गया और 8वें वर्ष में यज्ञोपवीत संस्कार हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब मूलशंकर 14 वर्ष के हुए तो उस समय उनके पिताजी ने उसे शिवरात्रि का व्रत रखने की आज्ञा दी। परन्तु उनकी माताजी नहीं चाहती थी कि उसका पुत्र शिवरात्रि का व्रत रखे। परन्तु पिताजी ने एक न सुनी। पिताजी मूलशंकर को व्रत रखने के लिए अपने साथ शिवमंदिर ले गये। शिवमंदिर में अनेक शिवभक्त तथा पुजारी भी थे। दीपों से सारा वातावरण प्रकाशित हो रहा था और धूप की सुगंध समूचे वायुमण्डल को सुगंधित कर रही थी। शिवपूजा होने के कुछ समय पश्चात् ही सारे भक्त एवं पुजारी निद्रा की गोद में समा गये, केवल मूलशंकर ही जागते रहे। चारों ओर गम्भीर निस्तब्धता एवं नीरवता का साम्राज्य छा गया था। इतने में शिवपण्डी पर कुछ चूहे आकर नैवेद्य खाने व मल-मूत्र करने लगे। यह सारा दृश्य मूल शंकर देख रहे थे। मूलशंकर के हृदय में घर की परम्परा के अनुसार शिव के प्रति आस्था एवं भक्ति थी। वे शिवपण्डी को ही सच्चा शिव मानते थे। परन्तु अब उन्हें यह ज्ञान हो गया था कि यह सच्चा शिव नहीं है। जब यह मूर्ति चूहों से अपनी रक्षा नहीं कर सकती तो संसार की रक्षा क्या करेगी। यह शिवपण्डी परमेश्वर कभी नहीं हो सकती क्योंकि प्रभु तो सारे संसार के रचयिता, पालक और विनाशक हैं। इस घटना ने मूलशंकर को इतना परेशान किया कि उन्हें अपने पिता को जगाना पड़ा और पिता जी से पूछा :--

पिता जी! जिस महादेव की कथा मुझे सुनाई गई है वह तो गुणों से चेतन प्रतीत होता है। यदि यह मूर्ति उसी महादेव की होती तो भला इन भ्रष्ट महामलिन मूषकों को अपने ऊपर क्यों चढ़ने देता? चूहे उसके शरीर पर सपाटे से दौड़े फिरते हैं और यह शिर तक नहीं हिलाता और न इन घृणित जन्तुओं के स्पर्श से ही अपने को बचाता है। इस अचेतन महादेव से उस

सर्वशक्तिसम्पन्न चेतन परमेश्वर को समझना असम्भव समझता हूँ। यही भेद जानने के लिए आपको जगाकर प्रश्न पूछा है।

पिता ने पुत्र के इस प्रश्न को गम्भीरता से लिया और इसका उत्तर इस प्रकार से दिया :–

पुत्र! इस कलिकाल में महादेव के साक्षात् दर्शन नहीं होते। इसलिए उसी कैलाशवासी शिव की मूर्ति बना कर प्राण-प्रतिष्ठापूर्वक पूजन किया जाता है। इन पाषाण आदि की मूर्तियों को यदि कोई महादेव की भावना से पूजे तो इससे महादेव अपनी पूजा के समान प्रसन्न हो जाता है। बेटा! तेरी तर्क बुद्धि बहुत बड़ी है यह सत्य है कि यह तो केवल देवता की मूर्ति है, साक्षात् देवता नहीं।

पिता के इस उपदेश से दयानंद की सन्तुष्टि नहीं हुई और उसकी आस्था मूर्ति पूजन से हट गई। उसकी लगन सच्चे शिव की खोज करने में लग गई। इसप्रकार मूलशंकर ने अपने घर आकर अपना व्रत तोड़ दिया और अपनी माता से लेकर खाना भी खा लिया। इसी दिन मूलशंकर को अद्भुत बोध हुआ जिसको ''ऋषिबोध उत्सव'' के रूप में हर वर्ष विभिन्न आर्य समाजों में मनाया जाता है। इसके विषय में एक हिन्दी कवि ने लिखा है :–

शिवरात्रि तुम्हें दे गई बोध,
पत्थर की प्रतिमा प्रभु कैसे?
निस्सीम व्याप्ति की सीमा क्या?
निर्बन्ध चेतना जड़ कैसे?

इसी प्रकार श्री विज्ञानमार्तण्ड वात्स्यायन कृत महाकाव्य ''बोधरात्रि'' महाकाव्य में भी लिखा है :–

क्या मूर्ति यह भगवान् है जिनकी सुनी हमने कथा।
विपरीत मैं तो देखता हूँ आज सब प्रभु की प्रथा।।

इसके बाद मूलशंकर ने 14 वर्ष की आयु में यजुर्वेद और अन्य वेदों के कुछ अंश कण्ठस्थ कर लिये और इसके अतिरिक्त निरुक्त, निघण्टु आदि ग्रंथों का भी अध्ययन कर लिया।

मूलशंकर जब 16 वर्ष के थे। उस समय एक रात उन्हें अपने प्रियजनों के साथ नाच में जाना पड़ा। नाच आरंभ होने से पूर्व ही मूलशंकर के घर से एक नौकर ने वहाँ पहुँच कर सूचना दी कि उनकी छोटी बहन रत्न बा हैज़े की शिकार हो गई है। यह समाचार सुनकर शीघ्र ही मूलशंकर अपने प्रियजनों के साथ घर पहुँचे। छोटी बहिन का बहुत उपचार किया परन्तु सब व्यर्थ। चार घंटों के भीतर ही उनकी बहिन प्रभु को प्यारी हो गई। सारा परिवार रोने लगा परन्तु मूलशंकर नहीं रोये। बहिन की मृत्यु देखकर मूलशंकर के हृदय में वैराग्य का प्रादुर्भाव हुआ और उसने मृत्युन्जय बनने का संकल्प लिया जैसे वे अपनी ''आत्मकथा'' में लिखते हैं :—

जन्म से लेकर उस समय तक मैंने यही प्रथम बार मनुष्य को मरते देखा था। इससे मेरे हृदय पर वज्रपात हुआ और मुझे बड़ा भय हुआ। मैं भयभीत हुआ, सोचने लगा कि सारे मनुष्य इसी प्रकार मरेंगे और ऐसे ही मैं भी मर जाऊँगा। सोच विचार में पड़ गया कि जितने जीवन संसार में हैं उन में से एक भी न बचेगा। इससे कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे मरण-जन्म, सभी दुःखों से छूटकर मुक्ति हो अर्थात् उस समय मेरे चित्त में वैराग्य की जड़ जम गई।

--आत्मकथा

मूलशंकर से पूर्व भी लोग चूहे को शिवलिंग पर चढ़ते हुए देखा करते होंगे, परन्तु यह भाव मूलशंकर के ही मन में क्यों आया कि यह वास्तविक ईश्वर नहीं है। स्पष्ट है कि कोई पुण्य आत्माएं ही होती हैं जो जन-कल्याणार्थ अपनी सुख सुविधाओं को तिलांजलि देने को उद्यत होती हैं।

जब मूलशंकर 19 वर्ष के थे तो उस समय उनके चाचा की हैज़े के कारण मौत हो गई। चाचा की मृत्यु पर मूलशंकर फूट-फूट कर रोने लगे। मानो उनकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई हो। इस घटना ने उनके हृदय में और भी वैराग्य को बढ़ा दिया।

जब मूलशंकर 20 के हो गये थे। उन्होंने अपने पिता जी से प्रार्थना की कि मुझे व्याकरण, ज्योतिष आदि के अध्ययन के लिए काशी भेज दीजिए। पिताजी तो उसके इस प्रस्ताव के लिये सहमत थे परन्तु माताजी ने काशी जाने के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। वह मूलशंकर से बोली :—

मैं जानती हूँ कि बहुत पढ़ लिख कर लड़के वैरागी बन जाते हैं, अतः मैं तुम्हें काशी नहीं जाने दूँगी ।

इस प्रकार मूलशंकर ने कुछ दिनों के बाद पिताजी से फिर निवेदन किया :–

आपने मुझे काशी जाने से रोका, इसमें मेरा कुछ आग्रह नहीं, परन्तु इतना तो मान लीजिए कि यहाँ से तीन कोस पर अपनी जाति के एक वयोवृद्ध बहुत बड़े विद्वान् रहते हैं उन्हीं के पास जाकर पढ़ा करूँ । वहाँ अपनी भूमिहारी है इसलिये कोई कष्ट न होगा ।

मूलशंकर के इस प्रस्ताव को पिताजी ने स्वीकार कर लिया और वह पंडितजी के पास जाकर पढ़ने लगे । कुछ समय व्यतीत हो जाने के उपरांत मूलशंकर और पंडित में विवाह का प्रसंग छिड़ गया । मूलशंकर ने पंडितजी को बताया :–

मुझको विवाह से ऐसी घृणा है कि जो किसी प्रकार मेरे मन से दूर नहीं हो सकती ।

विवाह की बात किसी प्रकार पंडितजी तक न रहकर उसके पिताजी तक पहुँच गई । इसके बाद घर में मूलशंकर के विवाह की तैयारियाँ जोर-शोर से होने लगी और इसलिये उनका मन चंचल हो उठा ।

जैसे आज से लगभग 2600 वर्ष पूर्व कपिलवस्तु का राजकुमार सिद्धार्थ अपनी अनुपम सुन्दर पत्नी यशोधा एवं दुधमुंहे बच्चे राहुल को छोड़कर दुःखों का निदान खोजने के लिए राजमहल का त्याग कर साधना पथ का पथिक बन गया था और इसीप्रकार आज से लगभग 500 वर्ष पूर्व तुलसीदास भी अपनी पत्नी रत्नावली के अपमानजनक शब्द सुनकर गृहत्यागी हो गये थे । ऐसे ही मूलशंकर भी 22 वर्ष की आयु में विवाहोत्सव से सुशोभित धनधान्यपूर्ण गृह को छोड़ने का निश्चय कर ''फिर लौटकर घर नहीं आऊँगा'' सत्य की खोज में घर का त्याग कर दिया ।

मूलशंकर ने गृहत्याग की प्रथम रात्रि अपने नगर से 6 कोस दूर व्यतीत की। फिर सायंकाल से पूर्व 20 कोस जाकर विश्राम किया। यहाँ उन्होंने हनुमान मंदिर में रात व्यतीत की थी। अपनी यात्रा में उन्होंने बड़े चातुर्य से काम लिया। वे प्रसिद्ध मार्ग पर न चलकर ऊँचे नीचे विषम पथ से जाते थे ताकि उन्हें कोई पहचान न सके। परन्तु जब माता-पिता को पता चला कि मूलशंकर घर से भाग गया तो उनको बड़ा दुःख हुआ। चारों ओर घुड़सवार एवं सिपाही दौड़ाये। जहाँ-जहाँ पर उसके जाने की संभावना थी, वहाँ-वहाँ पर उसे खोजा गया परन्तु मूलशंकर का कुछ पता न चला।

सत्य की खोज

जब महर्षि दयानंद ने सत्य की खोज और शिव दर्शन के लिये गृहत्याग कर दिया। जब वे योगियों की खोज में जा रहे थे तो मार्ग में उन्हें साधु वेश में कुछ ठग मिल गये। उनकी अंगुलियों में सोने की अंगूठियाँ एवं शरीर पर रेशमी वस्त्र थे। इस पर एक पाखण्डी साधु ने कहा :—

त्यागी बनने चले हो। हाथ की अंगुठियाँ तो छोड़ी नहीं गयी वैराग्य सिद्धि क्या धूल करोगे।

इस पर उन्होंने अंगूठियाँ उतार कर उन पाखण्डी साधुओं को सौंप दी। इस प्रकार लाल भक्त योगी के पास पहुँच कर वे योग सीखने लगे। उन्होंने मूलशंकर को नैतिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा दे डाली और उनका नाम शुद्ध चैतन्य रख दिया। कोट काँगड़ा में उन्होंने तीन मास काटे परन्तु उनकी मनोरथ-मुक्ता उन्हें वहाँ न मिल सकी। शुद्ध चैतन्य कोट काँगड़ा से थोड़ी ही दूर गये थे उनकी भेंट एक परिचित व्यक्ति से हो गई। उन्होंने उसे कह दिया कि वह सिद्धपुर जा रहा है और वहाँ पहुँच वे नीलकण्ठ महादेव के मंदिर में ठहरे। कुछ समय बाद परिचित व्यक्ति ने सारी रामकहानी पत्र द्वारा लिख कर मूल शंकर के पिता जी को भेज दी और सूचित कर दिया कि आप का पुत्र सिद्ध मेले में गया है। पुत्र का समाचार मिलते ही उसके पिता जी पुत्र की खोज में सिद्धपुर पहुँचे और खोजते-खोजते उस मंदिर में पहुँच गये जहाँ उनका पुत्र

ठहरा हुआ था । पिताजी अपने पुत्र को गेरुवे वेश में देखकर क्रोध से बोले :–

तूने सदैव के लिए हमारे वंश को दूषित कर दिया है । तू हमारे को कलंक लगाने वाला जन्मा है ।

इस प्रकार पिताजी को क्रोधित देखकर शुद्ध चैतन्य ने अपने पिता जी के दोनों पांव पकड़ लिये और वह अत्यंत विनम्रता से बोला :–

मैंने गृह त्याग कुछ धूर्तों के बहकाने से किया है । अपने इस कर्म का मैं पर्याप्त फल पा चुका हूँ । मैंने बहुत कष्ट उठाए हैं । आप मेरे अपराधों को क्षमा करें । मैं तो स्वयं ही घर लौटने की सोच रहा था । अब मैं आपके साथ घर चलने के लिये तैयार हूँ ।

परन्तु मूलशंकर की इन बातों पर पिताजी को विश्वास नहीं हुआ और क्रोध में आकर उन्होंने उसके गेरुवे वस्त्र फाड़ डाले और तूंबे को तोड़ डाला । मूलशंकर के पिताजी ने कहा :–

तेरी माता तेरे वियोग में रो-रोकर मर रही है और तू ऐसा कठोर हृदय है कि मातृ-हत्या करना चाहता है ।

इस पर पुत्र ने पिताजी को उत्तर दिया कि आप निश्चित् हो जाइए । मैं आपके साथ घर जाकर माताजी के दर्शन करूँगा । परन्तु पुत्र की बातों पर पिता को विश्वास नहीं हुआ । इसलिए पिताजी ने पुत्र की निगरानी के लिये सिपाहियों का कड़ा पहरा लगा दिया और आज्ञा दी कि वे रात-दिन जागते रहें कहीं मेरा पुत्र फिर से भाग न जाए ।

परन्तु मूलशंकर पिताजी से पीछा छुड़ाकर भागना चाहते थे । इसलिये उन्हें रात को भी नींद नहीं आई । जब तीसरी रात का तीसरा पहर आरंभ हुआ और पहरेदार सो गये । तो उस समय अवसर का लाभ उठाकर हाथ में एक जलपात्र लेकर लघुशंका के बहाने वहाँ से उठकर भाग गये । भागकर वे सिद्धपुर से आधा कोस दूर एक बाग़ में चले गये । वहाँ पर एक पुराना मंदिर था । अब वे वट वृक्ष की शाखाओं को पकड़कर मंदिर के शिखर पर छिप कर बैठ गये ताकि कोई उन्हें देख न ले । जब पिताजी और पहरेदारों को यह

समाचार मिला तो पिता ने उन्हें चतुर्दिक दौड़ाया परन्तु सब व्यर्थ। मूलशंकर वहीं मंदिर की चोटी पर छिपकर बैठे रहे और उन्हें किसी ने नहीं देखा और रात के चार बजे घोर अंधकार में वे मंदिर की चोटी से नीचे उतरे और उस ग्राम के दो कोस दूर जाकर ठहरे। यह पिता-पुत्र की अंतिम भेंट थी।

इसके बाद वे अहमदाबाद होकर बड़ौदा के चैतन्यमठ में ठहरे। बड़ौदा से नर्मदा के तट पर भी गये। वहाँ वे सच्चिदानंद परमहंस से मिले और ज्ञानचर्चा भी हुई। वे चाणोदकर्नाली भी गये और वहाँ उन्होंने परमानंद परमहंसजी के साथ अध्यापन करना आरंभ कर दिया। यहाँ रहकर ''वेदांतसार'', ''वेदांत परिभाषा'' आदि ग्रंथों का अध्ययन किया। परन्तु उनकी ज्ञान-पिपासा शांत नहीं हुई।

शुद्ध चैतन्य को अब स्वयं भोजन बनाना पड़ता था जिससे विद्याध्ययन में बाधा पड़ती थी। अतः उन्होंने संन्यास लेने का निर्णय कर लिया। अतः वे महाराष्ट्र के दण्डीस्वामी पूर्णानंद सरस्वतीजी से मिले। शुद्ध चैतन्य के अपने मित्र दक्षिणी पंडित से कहा कि वे दण्डीस्वामी जी से संन्यास लेना चाहते हैं। पहले तो दण्डी जी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। परन्तु बाद में दक्षिणी पंडित के मजबूर करने पर मान गये। इस प्रकार दण्डी स्वामी पूर्णानंद सरस्वतीजी जोकि महाराष्ट्र के रहने वाले थे। शुद्ध चैतन्य को संन्यास की दीक्षा दी और उसका नाम दयानंद सरस्वती रखा।

कुछ समय के उपरांत दयानंद योग सीखने लगे। इस प्रकार शिवानंद गिरि एवं ज्वालानंद पुरी ने दयानंद को योग की शिक्षा प्रदान की। इस प्रकार दयानंद ने चाणोदकर्नाली में रहकर एक मास तक जप तप किया। अनुष्ठान करते रहे फिर अपने योगी गुरु के आदेशानुसार अहमदाबाद पहुँच कर दुग्धेश्वर के मंदिर में उनसे मिले और योगविद्या सीखने लगे। अपने योग गुरु की कृतज्ञता व्यक्त करते हुये वे लिखते हैं :–

वहाँ उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की और अपने वचनानुसार मुझको निहाल कर दिया। अर्थात् उन्हीं महात्मा योगियों के प्रभाव से मुझको पूर्ण योगविद्या और उसकी साधनक्रिया अच्छी प्रकार विदित हो गई इसलिये मैं उनका अत्यंत कृतज्ञ हूँ।

इस प्रकार संन्यासी बनने के बाद लगभग 3 वर्षों तक स्वामी दयानंद योगियों एवं संत महात्माओं के साथ सत्संग करते हुए अपनी आत्मिक उन्नति करते रहे। संवत् 1912 में प्रथम बार हरिद्वार पधारे और योगियों से ज्ञान चर्चा की। इसके संबंध में वे स्वयं लिखते हैं :--

मैंने हरिद्वार का पहला ही कुंभ देखा था। मैंने यह कभी कल्पना भी नहीं की थी कि कुंभ के मेले में इतने त्यागी और तत्वदर्शी पुरुष आयेंगे।

इसके पश्चात् स्वामी दयानंद जी ने एक ब्रह्मचारी और दो पहाड़ी साधुओं के साथ उत्तराखंड की यात्रा आरम्भ की। वे केदारघाट से चल रुद्रप्रयाग आदि स्थानों पर होते हुए शिवपुरी पहुँचे। वहाँ से चलकर कुछ समय तक गुप्तकाशी में रहे। इस प्रकार कई स्थानों पर घूम-घूम कर ओखीमठ पहुँच गये। वहाँ पर एक विशाल मठ था। वहाँ के साधुओं का जीवन ठाट-बाट एवं पाखण्ड से व्यतीत हो रहा था। ओखीमठ का मुख्य महन्त स्वामी दयानंद के ब्रह्मचर्य, ज्ञान, गुणों एवं आकर्षण व्यक्तित्व से अत्यंत प्रभावित हुआ। एक दिन स्वामी दयानंद को प्रलोभन देते हुए बोला—

दयानंद! घुमक्कड़ों की भाँति घूमने से क्या मिलेगा?हमारे शिष्य बनकर गद्दी के स्वामी और लाखों रुपयों की सम्पत्ति के अधिकारी बनो।

स्वामी दयानंद ने उत्तर दिया :—

महन्त जी! जिस वैभव पर आपको अभिमान है। मेरे पिता जी की सम्पत्ति आपकी पूजापाठ के पाखण्ड से एकत्र की गई सम्पत्ति से कई गुणा अधिक है। जब मैं वह त्याग आया तब आपके धन-धान्य की ओर कब ध्यान कर सकता हूँ।

स्वामी दयानंद से महन्त ने पूछा :—

आपका उद्देश्य क्या है? किस वस्तु की जिज्ञासा में मग्न तुम इतने कष्ट-कलेश उठा रहे हो?

इस पर स्वामी दयानंद ने उत्तर दिया :–

मैं सत्य विद्या और मोक्ष चाहता हूँ ।

महन्त स्वामी दयानंद के त्याग, तप और उद्देश्य से बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उन्हें कुछ देर मठ में ठहरने का अनुरोध किया । परन्तु स्वामी दयानंद अगले दिन जोशीमठ की ओर चले गये । वहाँ उन्होंने कई विद्वानों से सत्संग भी किया । इसके बाद वे बद्रीनारायण जा पहुँचे । उस समय रावल जी वहाँ के मुख्य महन्त थे । एक दिन प्रातः काल ही स्वामी दयानंद जी अलखनंदा नदी के तट पर पहुँचे । नदी को पार करते समय अनेक कठिनाइयों का सामना भी स्वामी दयानंद जी को करना पड़ा यहाँ तक कि वे अचेत भी हो गये थे । फिर रात को 8 बजे बद्रीनारायण पधारे ।

द्रोणसागर से स्वामी दयानंदजी मुरादाबाद आये । वहाँ से सम्वल गढमुक्तेश्वर होते हुए गंगा तट पर पहुँचे । उस समय उनके पास ''हठप्रदीपिका'', ''योगबीज'' और ''शिवसंध्या'' नामक पुस्तकें थी । इन पुस्तकों में नाड़ी चक्र का बड़ा विस्तृत वर्णन था । उन्होंने गंगा नदी में बहते हुए शव की चीर-फाड़ की थी । इस प्रकार ग्रंथ में असत्य वर्णित पाकर सारी पुस्तकों को फाड़ कर शव के साथ ही उन्हें गंगा में बहा दिया । फिर स्वामी दयानंद फर्रुखाबाद पहुँचे । वहाँ कुछ समय ठहरकर कानपुर चले गये । कानपुर और प्रयाग के मध्यवर्ती स्थानों में विचरते रहे । फिर काशी और काशी से चण्डाल गढ़ चले गये । वहाँ दुर्गाकुण्ड मंदिर में 10 दिन तक रहे । स्वामी दयांनद ने नर्मदा नदी के स्रोत देखने की अपनी यात्रा आरंभ की । यह पहाड़ी मार्ग बड़ा कठिन था । वस्तुतः स्वामी दयानंद नर्मदा नदी के स्रोत तक कब पहुँचे, इसका किसी भी व्यक्ति को कुछ भी पता नहीं है ।

1857 ई. की क्रांति में योगदान–

हम देखते हैं कि स्वामी दयानंदजी ने अपनी आत्मकथा में 1847 ई. से 1856 ई. तक का जीवन परिचय लिखा है । परन्तु 1857 ई. से 1859 ई. तक का कोई भी वर्णन नहीं किया है । पुनः 1860 ई. के पश्चात् का जीवन परिचय लिखा है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में वे स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय भाग ले रहे थे ।

वे स्वतंत्रता की क्रांति सभाओं को संबोधित करते थे। 1855 ई. के आरंभ में प्रथम सभा हरिद्वार में हुई थी। इस सभा में सम्राट् बहादुर शाह ज़फ़र के शहजादे फ़िरोजशाह अजीमुल्ला खां, रंगू बापू आदि सम्मिलित हुये थे। इस सभा में 1500 लोग उपस्थित हुए थे। दूसरी सभा गढ़ गंगा के मेले के अवसर पर गंगातीर पर हुई जिसमें 2500 लोगों ने भाग लिया था। तीसरी सभा अक्तूबर 1855 ई. में हरिद्वार में हुई थी जिसमें 195 मुस्लिम सूफ़ी संतों ने भाग लिया था। इन सभाओं को स्वामी दयानंदजी संबोधित करते थे। इन सभाओं की योजना स्वामी ओमानंद और स्वामी पूर्णानंद ने तैयार की थी और इनकी व्यवस्था स्वामी विरजानंद ने की थी।

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि 1857 ई. की क्रांति के सूत्रधार मंगल पाण्डे, तांत्या टोपे, लक्ष्मीबाई, अजीमुल्ला खां और बहादुरशाह ज़फ़र थे। परन्तु यह बाबा औघड़ नाथ कौन था? इस साधु का उल्लेख उस समय के सरकारी अभिलेखों में भी मिलता है। यहाँ तक कि आज भी मेरठ में काली पलटन बाबा औघड़ नाथ का शिव मंदिर विद्यमान है। यह मान्यता है कि यह बाबा औघड़ नाथ और कोई नहीं अपितु स्वयं स्वामी दयानंदजी ही थे जिन्होंने अपना छदम् नाम बाबा औघड़ नाथ रखा था।

बाबा औघड़ नाथ गर्मियों में मेरठ की तपती गर्मी में 9 बड़े मटकों में रात को पानी भरकर रखते थे। इसके पश्चात् दिन में प्यासे सैनिकों को पानी पिलाते थे। पानी पिलाते समय वे प्रत्येक सैनिक से पूछते थे कि वह हिन्दू है या मुसलमान? यदि वह हिन्दू होता तो उससे कहते कि जिन कारतूसों को मुंह से छीलते हो उनमें गाय की चर्बी लगी है और मुसलमानों सैनिकों से कहते थे कि इनमें सूअर की चर्बी लगी है। इस प्रकार से हिन्दू मुसलमान सबको धर्म विरुद्ध कार्य करवाया जाता है। इससे वे सैनिकों में अंग्रेज़ी राज्य के विरुद्ध विद्रोह की भावना भरते थे। मंगल पाण्डे, बाबा औघड़ नाथ के प्रिय शिष्यों में से एक थे। जब उसका तबादला मेरठ से बैरकपुर हुआ तो उससे पूर्व रात्रि को वह बाबा औघड़ नाथ से आशीर्वाद लेने के लिये आया था।

अतः महर्षि दयानंद जी 1857 ई. के स्वतंत्रता संग्राम में न केवल सक्रिय थे अपितु एक मौन साधक के रूप में उसके महान् पुरोधाओं में से थे।

वीर विनायक सावरकर की पुस्तक ''1857 ई. का स्वातंत्रय समर'' के अनुसार इस क्रांति को फैलाने में सभी पंथों के साधुओं का सक्रिय योगदान था। यह टिप्पणी स्वामी दयानंद जी के योगदान की पुष्टि करती है। इस प्रकार डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार अपने ग्रंथ ''आर्य समाज का इतिहास'' (खण्ड IV) में लिखते हैं हम इस बात की प्रबल संभावना पर विचार कर चुके हैं कि 1857 ई. की स्वातंत्रय क्रांति में महर्षि दयानंद व उनके गुरु विरजानंद दण्डी का सक्रिय योगदान था। बल्कि ये क्रांति का विस्फोट करने वाले पुरोधाओं में से थे। डॉ. सत्यकेतु आगे लिखते हैं कि महर्षि दयानंद उन व्यक्तियों में से थे जो 1857 ई. की क्रांति से निराश नहीं हुए बल्कि संग्राम की विफलता पर विचार कर उन्हें दूर करने व उद्देश्य प्राप्ति के लिए प्रयत्न जारी रखने वालों में से थे। अतः उपरलिखित विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि दयानंद जी का 1857 ई. की क्रांति में बहुत बड़ा योगदान था।

महर्षि दयानंद और मथुरा पाठशाला–

स्वामी दयानंद हिमालय पर गये थे। वहाँ पर जाकर वे आदिशंकराचार्य द्वारा संस्थापित ज्योतिर्मठ भी गये थे। इस मठ के महन्त स्वामी पूर्णानन्द के शिष्य थे। इसी महन्त ने उन्हें स्वामी पूर्णानन्द से पढ़ने की प्रेरणा दी थी और स्वामी पूर्णानन्द के नाम स्वामी दयानंद को एक पत्र भी दिया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिमालय की यात्रा पूरी करके स्वामी दयानंद स्वामी पूर्णानंद के पास पहुँचे और उन्हें पढ़ाने के लिए निवेदन किया। उन दिनों उन्होंने मौनव्रत रखा हुआ था। इस पर स्वामी पूर्णानन्द ने उत्तर दिया :–

मैं 110 वर्ष का हो गया हूँ। वृद्धावस्था के कारण पढ़ाने का काम नहीं कर सकता। अतः तुम मथुरा में मेरे शिष्य विरजानंद के पास जाओ।

इस विषय पर विद्वानों के पृथक्-पृथक् विचार हैं कि स्वामी दयानंद मथुरा किस समय आये। पं. लेखराम के अनुसार स्वामी दयानंद रीवा (बुंदेलखंड) से चल कर 14-11-1860 ई. को मथुरा पहुँचे थे। 14-11-1860 ई. से 9-4-1863 ई. तक स्वामी विरजानंद के श्रीचरणों में विद्याध्ययन करते रहे। उस समय उनकी आयु 36 वर्ष की थी। सात फुट से

ऊँचा तप्त स्वर्ण-सा गौर शरीर जिस पर ब्रह्मचर्य का ओज एवं तेज टपक रहा था, जो योग साधना एवं विविध प्रकार के तप व व्रतों से कान्तिमय हो रहा था, व्यायाम से सुगठित एवं संतुलित था, बरबस लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। उनके शरीर पर काषाय वस्त्र, एक हाथ में मोटा सोटा, गले में रुद्राक्ष की माला, भाल पर भभूत रम रही थी। बगल में एक वस्त्र में कुछ पुस्तकें थी। यह संन्यासी मथुरा में आकर रगेश्वर महादेव के मन्दिर में ठहरे और कुछ दिन उपरांत स्वामी विरजानंद जी की कुटिया में पहुँचे।

जब स्वामी दयानंद विरजानंद की कुटिया पर पहुँचे तो उस समय कुटिया का द्वार बंद था। जब उन्होंने द्वार खटखटाया तो अंदर से आवाज़ आई :--

कौन है?

स्वामी दयानंद ने उत्तर दिया :–

मैं कौन हूँ? यही जानने के लिए आपकी शरण में आया हूँ।

अब भी द्वार बंद रहा। अन्दर से फिर आवाज़ आई :–

क्या कुछ पढ़े हो?

इस पर स्वामी दयानंद ने जो भी पढ़ा था सब कह दिया। फिर अन्दर से आदेश हुआ :–

अब तक जो तुमने पढ़ा है वह मनुष्यकृत अनार्ष ग्रंथसमूह है। जब तक अनार्ष ग्रंथों के संस्कार तुम्हारे मन पर अंकित रहेंगे तब तक आर्ष ज्ञान, आर्ष प्रज्ञा और आर्ष विवेक का जागृत होना असम्भव है। अतः अनार्ष ग्रंथों को यमुना में प्रवाहित कर दो, उनमें प्रतिपादित मिथ्या बातों को विस्मृत कर दो। पुनः अपने अंतस्तल को विशुद्ध और निर्मल बना कर आओ। तभी आर्ष ग्रंथों का रहस्य तुम्हारी समझ में आ सकेगा।

स्वामी दयानंद ने गुरु की आज्ञा का पालन किया और अपनी पुस्तकें यमुना में फैंक कर गुरु जी के पास आकर बोले :–

महाराज ! पुस्तकें यमुना में फेंक आया हूँ और साथ ही पुराने पढ़े को विस्मृत कर हृदयपटल को स्वच्छ कर लिया है ।

स्वामी विरजानंद जी की कुटिया में प्रवेश की आज्ञा स्वामी दयानंद को मिल गई । परन्तु अभी एक परीक्षा और थी ।

दयानंद ! तुम संन्यासी हो । संन्यासी के भोजन और निवास का कोई ठौर ठिकाना नहीं होता । अतः तुम्हारा हमारे अध्ययन करने का कोई स्थिर ढंग नहीं दीखता ।

इस प्रकार स्वामी दयानंद ने स्वामी विरजानंद से निवेदन किया :--

महाराज ! आप इसकी चिन्ता न कीजिए । मैं इसका प्रबन्ध कर लूँगा ।

इस प्रकार स्वामी विरजानंद ने स्वामी दयानंद को अपना शिष्य स्वीकार कर लिया । स्वामी विरजानंद जी की प्रेरणा से सारे नगर से चंदा एकत्रित करके स्वामी दयानंद के लिये ''महाभाष्य'' की एक प्रति 31 रुपये की मंगवाई गई थी । स्वामी दयानंद के भोजन का प्रबन्ध कुछ समय तक दुर्गाप्रसाद क्षत्रिय ने किया । फिर अमर लाल स्वामी दयानंद के परिचित हो गये । महाराजा सिंधिया उनके ज्योतिष से इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने अमर लाल को कुछ एक ग्राम दान में दे दिये थे और साथ ही ''ज्योतिषबाबा'' की उपाधि से भी विभूषित किया था । उनके घर पर 100 व्यक्ति प्रतिदिन भोजन करते थे । स्वामी दयानंद जी की अद्‌भुत प्रतिभा, विलक्षण बुद्धि, दिव्य देह एवं ब्रह्मचर्य दीप्ति से चमकते हुए मुख मण्डल को देखकर वह उनकी ओर आकर्षित हो गये । उन्होंने स्वामी दयानंद जी से सविनय निवेदन किया कि आप प्रतिदिन हमारे यहाँ ही भोजन ग्रहण करें । यहाँ तक कि वह पहले स्वामी को भोजन खिलाकर फिर स्वयं खाते थे । अमर लाल के विषय में स्वयं स्वामी दयानंद ने लिखा है :–

आहार आदि की व्यवस्था करने के कारण मैं अमर लाल का नितान्त आभारी हूँ । भोजन के संबंध में वह इतने सावधान रहते थे कि जब तक मेरे भोजन का

प्रबन्ध न हो जाता था वह स्वयं भोजन न करते थे। वस्तुतः अमरलाल एक महात्मा थे।

स्वामी दयानंद जी को विश्रामघाट पर लक्ष्मी नारायण के मंदिर के नीचे की मंजिल में एक कोठरी रहने के लिए मिल गई। स्वामी दयानंद के लिए चार आने मासिक गोवर्धन सर्राफ दिया करते थे। दूध के लिए दो रुपये मासिक हरदेव पत्थर वाले दिया करते थे। अतः आर्यसमाज इन दोनों व्यक्तियों का स्वामी दयांनदजी की सहायता के लिए ऋणी रहेगा।

भोजन और निवास का प्रबंध हो जाने पर स्वामी दयानंद जी का अध्ययन आरंभ हुआ। स्वामी विरजानंद की प्रतिभा असाधारण, उनका पाण्डित्य अद्वितीय एवं स्मृति विस्मयजनक थी। यही कारण है कि उन्हें ''व्याकरणसूर्य'' के नाम से पुकारा जाता था। उनकी यह सुदृढ़ धारणा थी कि आर्ष ग्रंथों के बिना यथार्थ ज्ञान असम्भव है। अतः वे पाणिनी कृत अष्टाध्यायी एवं पतंजलि कृत महाभाष्य के अध्ययन पर जोर दिया करते थे। अतः स्वामी दयानंद भी इन दोनों ग्रंथों का अध्ययन करने लगे। स्वामी दयानंद स्वामी विरजानंद के शिष्यों में प्रकाण्ड पंडित एवं असाधारण प्रतिभा के विद्यार्थी थे। अतः स्वामी विरजानंद ने उन्हें कालजिह्व एवं कुलक्कर की उपाधियां दे रखी थी। कालजिह्व का अर्थ है जिसकी जीभ असत्य के खण्डन और भ्रांति जाल के छेदन में काल के समान काम करे और कुलक्कर का अर्थ है खूंटा। जो खूंटे के समान दृढ़ रहकर विपत्ति को पराजित कर दे।

एक दिन की बात है कि स्वामी दयानंद यमुना नदी के किनारे पर समाधि लगाकर बैठे थे। दूसरी ओर एक सुन्दर स्त्री ने भक्तिभाव से अपना सिर उनके चरणों पर रख दिया। उन्होंने स्वयं उस सुन्दर स्त्री को वहाँ से हटने का निवेदन किया और वह वहाँ से चली गई। उसके बाद उन्होंने स्वयं यमुना में कूद कर स्नान किया। इसके उपरांत निर्जन स्थान में तीन दिन तक निराहार रहे और चौथे दिन गुरु जी के पास पहुँचे। गुरुजी के चरण स्पर्श कर अभिवादन किया और गुरु जी ने स्वामी दयानंद जी को गले लगा दिया और उससे पूछा :–

''दयानंद ! इतने दिन तुम कहाँ रहे ?वत्स ! तुम कृशांग प्रतीत होते हो । क्या कारण है ?'' स्वामी दयानंद ने सारी राम कहानी गुरु जी को सुनाई और फिर गुरुजी बोले– ''अंधे को लाठी मिल गई ।''

स्वामी दयानंद गुरु विरजानंदजी की कुटिया में स्वयं झाड़ू लगाया करते थे और उनके स्नान के लिये यमुना से जल भी लाते थे । उन्होंने गुरु जी को सेवा द्वारा अपनी मुट्ठी में कर लिया था । एक दिन कुटिया साफ करते समय कुछ कूड़ा-कर्कट रह गया और कहीं उस पर गुरु जी का पाँव पड़ गया । इस पर गुरुजी ने दयानंद को लाठी से बहुत पीटा और उनकी भुजा पर गहरी चोट आ गई । परन्तु शिष्य ने अपनी पीड़ा की ओर कोई ध्यान न देकर गुरु जी से प्रार्थना की :–

महाराज ! आप मुझे न मारा करें, मेरा शरीर तो वज्र के समान है, उस पर प्रहार करने से आपके कोमल हाथों को ही पीड़ा होगी ।

कहते हैं कि उस दिन के घाव का चिह्न उनकी भुजा पर जीवन भर रहा । वे जब उसे देखते तब अपने गुरु के उपकारों को याद किया करते थे ।

स्वामी दयानंद की स्मरण शक्ति इतनी तीक्ष्ण थी कि वे अपने पाठ को एक ही बार सुनकर याद कर लेते थे । परन्तु एक दिन ''अष्टाध्यायी'' की एक प्रयोगसिद्धि उन्हें भूल गई और गुरुजी से प्रार्थना की :–

महाराज ! यह प्रयोग सिद्धि फिर बतला दीजिए ।

परन्तु गुरुजी ने बार-बार पूछने पर स्पष्ट कह दिया–

हम एक बात को बार-बार बताने के लिये यहाँ नहीं बैठे हैं, जाओ, उसे स्मरण करके आओ । हम पिछला पाठ सुने बिना अगला पाठ नहीं पढ़ायेंगे । यदि प्रयोग स्मरण न आये तो यमुना में कूदकर प्राण भले ही दे देना, परन्तु प्रयोग स्मृति के बिना हमारे पास मत आना ।

गुरुजी के आदेश का पालन करने के लिए वे यमुना नदी के तट पर जाकर बैठ गये और प्रयोगसिद्धि का चिन्तन करने लगे । उन पर योगनिन्द्रा छा गई और उन्हें प्रयोगसिद्धि याद आ गई । वे इसके पश्चात् अत्यंत प्रसन्न

हुये और गुरुजी के पास पहुँच कर सारी प्रयोगसिद्धि सुनाई। इस प्रकार स्वामी विरजानंदजी की खुशी का कोई भी पारावार न रहा।

स्वामी दयानंद आर्ष ग्रंथों का अध्ययन कर कृतार्थ हो गये। सोना दिव्य कुन्दन बन गया। उनकी विदाई का समय आ गया। गुरु जी लौंगो के बहुत शौक़ीन थे। उन्होंने गुरुजी के चरण स्पर्श करके कहा :--

महाराज! आपने असीम कृपा कर मुझे विद्यादान दी है। उसके लिये मेरा रोम रोम आपका धन्यवाद करता है। प्रभो! अब आप का शिष्य आप से देशाटन की आज्ञा ग्रहण करना चाहता है।

अपने प्रियशिष्य से गुरुजी ने पूछा :–

दयानंद क्या लाये हो?

शिष्य ने गुरुजी को उत्तर दिया :–

थोड़े से लौंग लाया हूँ।

गुरुजी ने शिष्य को उत्तर दिया :–

क्या हमारे घोर परिश्रम का यही पारिश्रमिक है?

गुरुजी से शिष्य ने निवेदन किया :–

मैं अकिंचन संन्यासी हूँ। ये लौंग भिक्षा करके लाया हूँ। गुरुजी विश्वास कीजिए। मेरे पास है ही क्या जो आपको भेंट करूं?

गुरुजी ने शिष्य को उत्तर दिया :–

दयानंद क्या तुम समझते हो कि मैं तुमसे वह वस्तु माँगूं, जो तुम्हारे पास नहीं है। मैं तुमसे गुरुदक्षिणा में वह वस्तु लेना चाहता हूँ जो तुम्हारे पास है।

गुरुजी के ज्योतिहीन नेत्रों ने चाहे इन दृश्य को न देखा हो, परन्तु वे शिष्य के हार्दिक भाव को तो समझ ही गये। उन्होंने उत्तर दिया वत्स! क्या इन तुच्छ लौंगों को देकर ही गुरुजी के ऋण से उऋण होना चाहते हो? मैं तो इससे कहीं अधिक मूल्य की दक्षिणा चाहता हूँ। गुरुजी ने अपने प्रिय शिष्य को कहा :–

सौम्य! मैं तुमसे किसी प्रकार के धन की दक्षिणा नहीं चाहता हूँ। मैं तुमसे तुम्हारे जीवन की दक्षिणा चाहता हूँ। तुम प्रतिज्ञा करो कि जितने दिन जीवित

रहोगे, उतने दिन आर्यावर्त्त में आर्ष ग्रंथों की महिमा स्थापित करोगे। अनार्ष ग्रंथों का खंडन करोगे और भारत में वैदिक धर्म की स्थापना में अपने प्राण तक अर्पण कर दोगे।

इस विषय में डॉ. सूर्यदेव शर्मा के अपनी पुस्तक ''आर्यसमाज और हिन्दी'' में लिखा है –

अहो प्रिय शिष्य मुदित मतिमान, अखिल आशा पजरके वीर।
अरुणावत् अतुलित आभावान, अनुपम आज्ञाकारी वीर।।
दक्षिणा देते हो का तात, थाल में रख कर आधा सेर।
न लौंगे लूँगा, सुन लो बात, आ रही अंतस्थल से टेर।।
अहो ऋषि मुनियों का गुरुज्ञान, भुलाया भारत ने भरपूर।
गपोड़े ग्रंथ गढ़े गढ़मान उन्हें तुम कर दो चकनाचूर।।
दिखाकर वैदिक ''सूर्य प्रकाश'' भगा दो निशिचर अबुध उलूक।
अविद्यातम का करके नाश सुपथ दिखा ला दो अटल अचूक।।

अन्त में शिष्य दयानंद, गुरु विरजानंद से प्रतिज्ञा करते है :--

हे गुरुदेव! मैं अपने रक्त की अंतिम बूंद तक वेद, सत्य और धर्म का प्रचार-प्रसार करता रहूँगा।

जैसे एक हिन्दी कवि के शब्दों में :--

विश्व में करके वेद प्रचार, करूँ संस्थापित आर्यसमाज।
मातृ भू भारत का उद्धार, आर्य जाति का गौरव राज।।
इसी में अपूर्ण कर दूँ अपने प्राण, अगर है दयानंद मेरा नाम।।

इसके पश्चात् स्वामी दयानंद ने गुरुजी को साष्टांग दंडवत प्रणाम किया और मथुरा छोड़कर चले गये।

3. आर्यसमाज के दस नियम

आर्य समाज की स्थापना के समय मुम्बई में आर्यसमाज के 28 नियमों का निर्माण पारिख़ महाशय ने किया था। वे महर्षि दयानंद की रचना न थे। अतः सिद्धांतदृष्टि से वे अनार्ष कल्पना थे। यह उनकी प्रथम त्रुटि थी। यहाँ तक कि उनमें वेद को ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार नहीं किया गया था। तीसरे उनमें से कोई भी नियम ईश्वर को सृष्टि का रचयिता स्वीकार नहीं करता। चौथे उनमें कोई भी नियम समस्याओं की सम्मति से बदला जा सकता था। पांचवे उन में स्त्री को प्रधान एवं मंत्री बनने का अधिकार नहीं था। इन नियमों में संशोधन की आवश्यकता थी। अतः महर्षि दयानंद ने स्वयं 24-6-1877 ई. को लाहौर में रहीम खां की कोठी में इन नियमों का नूतन संस्कार करके आर्यसमाज के 10 नियमों का निर्माण किया। उस समय महाशय मूलराज इस आर्य समाज के प्रधान और साईंदास मंत्री बने। वे नियम निम्नलिखित हैं –

1. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।
2. ईश्वर सच्चिदानंदस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।
3. वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।
4. सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिएं।
5. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य का विचार करके करने चाहिए।
6. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्योद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।
7. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

8. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए ।
9. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए । किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझना चाहिये ।
10. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र हैं ।

पद्यानुवाद

सब सद् विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं ।
है आदि मूल सब का परमेश्वर ऋषिवर यह बतलाते हैं । । 1 । ।
वह प्रभु सत्, चित्, आनन्दरूप और निराकार शुभ सत्ता है ।
है सर्वशक्ति का स्रोत दयालु, अनुपम अज व अनन्ता है । ।
वह निर्विकार, अनुपम, अनादि, सर्वोत्तम न्याय विधाता है ।
सर्वेश्वर, सर्वाधार, अजर और अमर, अभय सुखदाता है । ।
सर्वान्तर्यामी है पवित्र वही नित्य सृष्टि का कर्ता है ।
सब का उपास्य है देव वही दुःख द्वन्द्व सभी के हर्ता हैं । । 2 । ।
सद् विद्याओं का स्रोत वेद, उनका पढ़ना, गुनना, सुनना ।
है आर्य मात्र का परमधर्म, सबको उनके रंग में रंगना । । 3 । ।
हैं सत्य असत्य जगत् में दो निर्णीत् शुभाशुभ पथ माने ।
है आर्य मात्र का व्रत पुनीत वह सत्य सुने, माने, जाने । । 4 । ।
है धर्मप्राण आर्यों का जीवन, सत्य असत्य विवेचन ही ।
रहकर असत्य से दूर सदा, शुभ सत् पथ का निर्देशन ही । । 5 । ।
कर स्वस्थ देह, उन्नत-आत्मा, और शुभ समाज गौरवशाली ।
करते जग का उपकार आर्य, बनकर जग उपवन के माली । । 6 । ।
है प्रेम, धर्म और नीतिपूर्ण, आर्यों का शुभ आचार सदा ।
और प्रीतिपूर्वक, धर्म सहित, शुभ यथायोग्य व्यवहार सदा । । 7 । ।
खो अन्धतमस् अविद्या का, विद्या का सूर्य प्रकाशित कर ।
आलोक ज्ञान का बिखराते हैं, आर्य सदा भूमण्डल पर । । 8 । ।
निज उन्नति से सन्तुष्ट नहीं, रहते हैं आर्य कभी जग में ।
हैं प्राणि-मात्र को साथ लिए, चलते शुभ उन्नति के मग में । । 9 । ।

परतन्त्र रहो सब के हितप्रद, सामाजिक नियम विधानों में ।
बनकर स्वाधीन सदा विचारो निज हित के सुखद तरानों में ।। 10 ।।

श्री रविदत्त शास्त्री

पहला नियम

सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदिमूल परमेश्वर है ।

इस नियम के तीन भाग हैं ।

1. सब सत्य विद्या, 2. विद्या (सत्य विद्या) से जो पदार्थ जाने जाते हैं, 3. परमेश्वर उन सबका, अर्थात् सत्यविद्या और उससे जिन पदार्थों का बोध होता है, आदि मूल है ।

यहाँ सत्यविद्या, पदार्थ तथा आदिमूल पदों के अर्थ विचारणीय हैं । अतः ये दसों नियम महर्षि दयानन्द जी द्वारा रचित हैं । अतः उक्त पदों का वही अर्थ ग्राह्य है, जो उन्होंने अपने ग्रंथों में किया है ।

2. जिससे पदार्थ को यथावत् जानकर न्यायपूर्वक कर्म किये जावें वह 'विद्या' और जिससे किसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान न होकर अन्यायरूप कर्म किये जाएँ वह 'अविद्या' कहाती है । —व्यवहार भानुः

''जिससे पदार्थों का यथास्वरूप बोध होवे वह विद्या कहाती है ।''

—सत्यार्थप्रकाश, समु. 9

इन उद्धरणों का सार यही है कि 'विद्या' वह है जिससे संसार के समस्त पदार्थों, चेतन व अचेतन दोनों का यथार्थज्ञान प्राप्त होता है । प्रायः लोक में विद्या का प्रयोग भिन्न अर्थ में भी किया जाता है । जेब काटने व धोखा देने की कला को भी विद्या कहा जाता है । जादू, टोना व दूसरों को ठगना भी 'विद्या' है । क्या परमेश्वर इस प्रकार की विद्याओं का भी आदिमूल है? यदि उक्त नियम में केवल विद्या शब्द का ही प्रयोग किया जाता तो कुछ व्यक्ति इस प्रकार की शंका कर सकते थे, यद्यपि यह शंका बहुत उथली है । महर्षि दयानन्द जी ने विद्या शब्द से पूर्व सत्य विशेषण रखकर इस प्रकार की शंका के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी । वैसे यदि गहन दृष्टि से देखा जाए तो

महर्षि की दृष्टि में 'विद्या' और 'सत्यविद्या' में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु फिर भी नियम के भाव को अधिक स्पष्ट करने के लिये यहाँ 'सत्यविद्या' पद का प्रयोग किया गया है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सत्यविद्या किसे कहते हैं? सत्यविद्या उसे कहते हैं जो तीन काल में एक रस रहती है, जिसका विकास या ह्रास, अर्थात् उन्नति या अवनति नहीं होती। यह अपरिवर्तनशील, नित्य व शाश्वत होती है, जैसे दो और दो का योग सदैव चार होता है। किसी भी काल में इसके योग में ह्रास व वृद्धि सम्भव नहीं। इस दृष्टि से मनुष्य के ज्ञान को सत्यविद्या की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि उसका ज्ञान परिवर्तनशील है, उसमें उन्नति व अधोगति होती रहती है। अतः स्पष्ट है कि ईश्वरीय ज्ञान को ही सत्यविद्या कहा जा सकता है और उसी ज्ञान को वेद नाम से पुकारा जाता है।

इस धारणा की पुष्टि तृतीय नियम से होती है। वहाँ लिखा है कि–''वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।'' इस प्रकार प्रस्तुत नियम में प्रयुक्त 'सत्यविद्या' पद का अर्थ हुआ -वेद'। सत्य विद्या से पूर्व विशेषणरूप में सब पद रक्खा हुआ है। अतः सब सत्यविद्या पद का अभिप्राय हुआ 'सब वेद' अर्थात् चारों वेद।

नियम का दूसरा भाग इस प्रकार है–''जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं।'' इसका अर्थ यह हुआ कि 'वेद' से जिन-जिन पदार्थों का ज्ञान होता है। वेद का प्रतिपाद्य विषय क्या है, इसकी व्याख्या तृतीय नियम में की जाएगी। यहाँ पदार्थ पद का अर्थ विचारणीय है। तर्क-कौमुदी के अनुसार 'अभिधेयाः पदार्थाः', अर्थात् शब्द द्वारा व्यक्त किसी भी वस्तु को पदार्थ कहते हैं। इस अर्थ में संसार की सभी ज्ञेय वस्तुओं को पदार्थ कह सकते हैं। पदार्थों का वर्गीकरण करते हुए वैशेषिक दर्शन में छह पदार्थ माने गये हैं, जिनके नाम ये हैं–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। बाद में चलकर अभाव को भी सातवाँ पदार्थ मान लिया गया है। द्रव्य के 9 भेद हैं, जो इस प्रकार हैं–पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा (जीवात्मा) तथा

मन। सत्यार्थप्रकाश अष्टमसमुल्लास में महर्षि दयानन्द जी ने परमेश्वर व जीव के साथ ही काल और आकाश को भी अनादि माना है। अनादि पदार्थ कार्यरूप में परिणत न होने के कारण अपने निमित्तकारण की अपेक्षा नहीं रखते। यदि प्रस्तुत नियम में पदार्थ पद का प्रयोग उक्त अर्थ में किया जाए तो यह मानना पड़ेगा कि ईश्वर अपना स्वयं का तथा जीवात्मा, काल व आकाश का निमित्तकारण है, अर्थात् वह इन सबको उत्पन्न करता है, किन्तु यह आशय महर्षि के सिद्धान्त के विरुद्ध है। अतः पदार्थ पद का अर्थ यहाँ पर कार्यजगत् करना ही समीचीन है, क्योंकि किसी शब्द का अर्थ प्रकरण और लेखक के आशय को लेकर किया जाता है।

नियम के तीसरे भाग में कहा गया है कि उन सबका, अर्थात् वेद विद्या का आदिमूल परमेश्वर है। आदि का अर्थ है–जिसके पूर्व और परे कुछ न हो। मूल का अर्थ है कारण। सत्यार्थप्रकाश अष्टम् समुल्लास में सांख्यदर्शन के ''मूले मूलाभावाद मूलं मूलम्'' सूत्र के अर्थ में महर्षि ने लिखा है कि –'मूल का मूल' अर्थात् 'कारण का कारण नहीं होता। इस अर्थ के आधार पर आदिमूल का अर्थ हुआ आदि कारण। सत्यार्थप्रकाश के इस प्रकरण में आदि कारण का अर्थ प्रकृति किया गया है। इस आधार पर कुछ विद्वान् बिना गम्भीरता से विचार किये प्रस्तुत नियम में प्रयुक्त आदि मूल शब्द का अर्थ प्रकृति लेकर इस नियम का यह अर्थ करने का प्रयत्न करते हैं कि परमेश्वर इस जगत् का उपादान कारण है, क्योंकि आदिमूल का अर्थ है प्रकृति और प्रकृति है जगत् का उपादानकारण। उनकी दृष्टि से आदिमूल का अर्थ उपादानकारण है, परन्तु यह व्याख्या सर्वथा अनुचित है और महर्षि के मन्तव्य के सर्वथा विरुद्ध। सत्यार्थप्रकाश अष्टमसमुल्लास में महर्षि ने प्रश्नोत्तररूप में इस विषय का विवेचन इस प्रकार किया है–

प्रश्न–जगत् के कारण कितने होते हैं?

उत्तर–तीन–एक निमित्त, दूसरा उपादान, तीसरा साधारण। निमित्तकारण उसको कहते हैं कि जिसके बनाने से कुछ बने। न बनाने से न बने। आप स्वयं बने नहीं, दूसरे को प्रकारान्तर बना देवे। दूसरा

उपादानकारण उसको कहते हैं, जिसके बिना कुछ न बने वही अवस्थान्तररूप होके बने और बिगड़े भी। तीसरा साधारणकारण उसको कहते हैं कि जो बनाने में साधन और साधारण निमित्त हो। निमित्तकारण दो प्रकार के हैं। एक, सब सृष्टि को कारण से बनाने, धारने और प्रलय करने तथा सबकी व्यवस्था रखने वाला मुख्य निमित्तकारण परमात्मा। दूसरा परमेश्वर की सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तर बनानेवाला साधारण जीव। उपादानकारण, प्रकृति, परमाणु जिसको सब संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि महर्षि के मन्तव्यानुसार ईश्वर जगत् का निमित्तकारण है, उपादानकारण नहीं। नवीन वेदान्ती लोग मकड़ी का उदाहरण देकर ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण सिद्ध करते हैं। उनका विचार है कि जिस प्रकार बिना किसी बाह्य सामग्री की सहायता लिये अपने भीतर से तन्तु निकालकर मकड़ी जाला बना लेती है, उसी प्रकार ब्रह्म अपने में से जगत् को बना आप जगदाकार हो जाता है। इस मत के खण्डन में महर्षि का कथन है कि –

जो तुम्हारे कहने के अनुसार जगत् का उपादानकारण ब्रह्म होवे तो वह परिणामी, अवस्थान्तरयुक्त, विकारी हो जावे और उपादानकारण के गुण-कर्म-स्वभाव कार्य में भी आते हैं। ब्रह्म चेतन है, इसलिए पृथिव्यादि कार्य भी चेतन होने चाहिएं, किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। इसका कारण यही है कि ईश्वर जगत् का केवल निमित्तकारण है; उपादानकारण नहीं। इस आधार पर प्रस्तुत नियम में आदिमूल का अर्थ निमित्तकारण ही हुआ।

अतः इस नियम का भाव इस प्रकार हुआ–वेद और कार्यजगत् का निमित्तकारण परमेश्वर है। बीज रूप में इस नियम से आर्यसमाज के दो मौलिक-सिद्धान्तों की जानकारी मिलती है–(1) वेद अपौरुषेय हैं, (2) परमेश्वर जगत् का निमित्तकारण है। इसमें यह भी अन्तर्निहित है कि यह जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं और नवीन वेदान्तियों का ब्रह्मवाद का सिद्धान्त असत्य है। इसके साथ ही इस नियम में भौतिकवाद के इस मत का भी खण्डन

हो जाता है कि जगत् बिना किसी चेतन सत्ता की सहायता के प्रकृति से स्वयं उत्पन्न हो जाता है। इन तीनों सिद्धान्तों का विवेचन करना यहाँ सम्भव न हो सकेगा, तथापि प्रथम सिद्धान्त –'वेद अपौरुषेय हैं' का संक्षेपतः वर्णन करना आवश्यक एवं उपयुक्त प्रतीत होता है।

वेद ही ईश्वरीय ज्ञान है

आर्यसमाज की मान्यता है कि वेद ईश्वर द्वारा प्रदत्त वह सर्वप्रथम ज्ञान है जो मनुष्यों को सृष्टि उत्पत्ति के साथ दिया था। यह मान्यता केवल शब्दप्रमाण पर ही आधारित नहीं है, वरन् तर्क संगत भी है। वेद की अपौरुषेयता पर विचार करते समय हमारे सामने एक प्रश्न उपस्थित होता है, जिस पर विचार करना आवश्यक है। वह यह है कि विभिन्न मतावलम्बी सभी लोग अपने-अपने धर्मग्रंथों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं। ऐसी अवस्था में किसको ईश्वरीय ज्ञान माना जाए और किसको नहीं? इसके उत्तर में हम यही कह सकते हैं कि सब मतों के दावों को कसौटी पर कस कर देख लो जो उस पर उतर जाए वही ईश्वरीय ज्ञान हो सकता है। यहाँ कतिपय कसौटियाँ प्रस्तुत की जाती हैं–

1. ईश्वरीय ज्ञान मानव सृष्टि के साथ ही सृष्टि के आरम्भ में मिलना चाहिये।
2. ईश्वरीय ज्ञान किसी देश विशेष की भाषा में न हो।
3. ईश्वरीय ज्ञान के ग्रंथ में किसी देश का भूगोल व इतिहास नहीं होना चाहिये।
4. उसमें कोई भी बात सृष्टिक्रम के विपरीत न हो।
5. वह ज्ञान ईश्वर के गुण-कर्म और स्वभाव के अनुकूल होना चाहिए।
6. मानव के पूर्ण कल्याण के लिए जितना ज्ञान अपेक्षित है, वह उस ग्रंथ में होना चाहिए।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इन कसौटियों पर केवल वेद ही खरा

उतरता है । वेद का प्रकाश ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा नामक चार ऋषियों के हृदय में किया था । आर्यसमाज का दावा है कि वेद में न इतिहास है और न उसमें कोई सृष्टिक्रम के विरुद्ध बात है । वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने के सम्बन्ध में कई शंकाएं प्रस्तुत की जाती हैं । उन सबका महर्षि दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश सप्त समुल्लास और ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका के वेदोत्पत्तिविषय प्रकरण में विस्तार के साथ तर्कसंगत समाधान किया है ।

इस नियम की एक दूसरी व्याख्या

कुछ विद्वानों ने इस नियम की एक भिन्न व्याख्या की है उस पर भी विचार कर लेना चाहिए । उनके विचार में अन्वय करने के उपरांत इस नियम का रूप यह होगा—''जो सब सत्यविद्या और पदार्थविद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है ।''

जो सबका अर्थ है—ईश्वर, जीव व प्रकृति । ये तीनों अनादि व अनन्त हैं ।

सत्यविद्या कहते हैं ब्रह्मविद्या को । इसी को पदार्थविद्या कहते हैं ।

पदार्थविद्या का अर्थ है सृष्टिविद्या-सम्बन्धी विद्या । यही भौतिक विज्ञान है । इसी को अपरा विद्या कहते हैं ।

इस प्रकार इस नियम का यह अर्थ हुआ कि ब्रह्मविद्या और सृष्टिविद्या से ईश्वर, जीव व प्रकृति को जाना जाता है और ईश्वर इन सबका निमित्तकारण है ।

यह अर्थ दोषपूर्ण है । इसमें कई आपत्तियाँ हैं । प्रथम आपत्ति तो यह है कि ईश्वर अपना स्वयं का तथा जीव व प्रकृति का निमित्तकारण नहीं है । द्वितीय आपत्ति यह है कि तीसरे नियम में आता है कि —'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है । यदि सत्यविद्या का अर्थ ब्रह्मविद्या है तो क्या वेद में पदार्थविद्या नहीं है? तीसरे नियम में सत्यविद्या नहीं बल्कि सत्यविद्याओं लिखा है । इस अवस्था में सत्य-विद्या का अर्थ केवल ब्रह्मविद्या कैसे किया जाएगा? अतः इस नियम का जो अर्थ हमने पहले किया है, वही ठीक है ।

जैसाकि हम प्राक्कथन में लिख चुके हैं कि आर्यसमाज के दश नियमों का आधार वेद है, यहाँ प्रमाणरूप में इस नियम के आधार वेद मंत्र प्रस्तुत हैं–

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।

अर्थ – ऋतं यथार्थं सर्वविद्याधिकरणं वेदशास्त्रम् (यथार्थ विद्या का ख़जाना वेदशास्त्र)

सत्यं –त्रिगुणात्मक प्रकृति जिसका नाम अव्यक्त, सत् प्रधान है जो स्थूल व सूक्ष्म जगत् का कारण है वह भी कार्यरूप से प्रकट हुई । भावार्थ यह है कि ईश्वर ने वेद की रचना की और कार्यजगत् को प्रकृति से उत्पन्न किया ।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। यजु. 13-4

अर्थ–जो स्वप्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाश करने हारे सूर्य-चन्द्रमादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं जो उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत् का प्रसिद्ध स्वामी एक ही चेतनस्वरूप था, जो सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व वर्तमान था । सो इस भूमि और सूर्यादि को धारण कर रहा है । हम लोग उस सुखस्वरूप शुद्ध परमात्मा के लिए ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अतिप्रेम से विशेष भक्ति किया करें ।

इस नियम से यह तो सर्वथा स्पष्ट ही है कि आर्यसमाज एक ईश्वर-विश्वासी समाज है । स्वभावतः प्रश्न उत्पन्न होता है कि वह ईश्वर कौन है ? उसका क्या स्वरूप है ? इसका उत्तर अगले नियम में दिया गया है ?

दूसरा नियम

ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है उसी की उपासना करनी योग्य है ।

संसार के सभी अवैदिक आस्तिक (ईश्वर-विश्वासी) सम्प्रदायों ने अपने-अपने तथाकथित धर्म-ग्रंथों में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन किया है,

किन्तु उनमें एकरूपता का सर्वथा अभाव है। इसका कारण यह है कि साम्प्रदायिक लोगों ने ईश्वर का विवेचन तर्क के आधार पर न कर उसमें कल्पना का आश्रय लिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जब कोई श्रद्धालु जिज्ञासु इन मत-मतान्तरों द्वारा प्रतिपादित ईश्वर के स्वरूप का अध्ययन करता है तो वह यह निर्णय नहीं कर पाता कि किस मत का ईश्वर वास्तविक है और किसका अवास्तविक। कोई ईश्वर को एक कहता है तो कोई अनेक, कोई उसे सर्वव्यापक मानता है, तो कोई उसे देशविशेष में स्थित मानता है। किसी ने उसे निराकार माना है तो दूसरे ने उसे साकाररूप में प्रस्तुत किया है। किसी का ईश्वर सगुण है तो किसी का निर्गुण। एक साधारण बुद्धि का व्यक्ति निर्णय नहीं कर पाता कि किसका ईश्वर सच्चा है और किसका झूठा?

महर्षि दयानन्द जी ने आर्य समाज के दूसरे नियम में वेद के आधार पर ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का वर्णन किया है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है, यह प्रथम नियम में सिद्ध हो चुका है। ईश्वर पूर्ण है, अतः उसका ज्ञान भी पूर्ण है। उसके ज्ञान वेद पर आधारित ईश्वर का स्वरूप निश्चितरूपेण सत्य व वास्तविक होगा, इसमें सन्देह की गुंजाइश हो ही नहीं सकती। महर्षि ने ईश्वर का स्वरूप प्रस्तुत करने के लिए उसके जिन गुणों का वर्णन कर उन्हें जिस क्रम में प्रस्तुत किया है, वह बड़ा विलक्षण है। आगे चलकर इस पर प्रकाश डाला जाएगा। इस नियम से अद्वैतवाद, अनेकेश्वरवाद, अवतारवाद व मूर्तिपूजा आदि कई अवैदिक विचारधाराओं का स्वतः खण्डन हो जाता है। इन सब बातों का दिग्दर्शन आगे चलकर होगा। सर्वप्रथम हम इस नियम में रखे हुए शब्दों पर क्रमशः विचार करते हैं–

सच्चिदानन्द–यह तीन शब्दों से मिलकर बना है। वे हैं सत्+चित्+आनन्द। इन तीनों का अर्थ अलग-अलग लिखते हैं।

सत्–(असि भुवि) इस धातु से सत् शब्द सिद्ध होता है–''यदस्ति त्रिषु कालेषु न बाध्यते तत् सद्ब्रह्म'' जो सदा वर्त्तमान, अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमानकालों में जिसका बोध न हो, अर्थात् जो त्रिकालाबाध्य हो, उस परमेश्वर को सत् कहते हैं। परमेश्वर सदा विद्यमान रहता है, उसका नाश

कभी नहीं होता, इसलिऐ उसे सत् कहते हैं । राम और कृष्णादि महापुरुषों को परमात्मा नहीं कह सकते । क्योंकि वे तीनों काल में विद्यमान नहीं रह सकते थे ।

चित्–जो चेतनस्वरूप सब जीवों को चिताने और सत्यासत्य का जनानेहारा है, इसलिए उस परमात्मा का नाम 'चित' है । ईश्वर जीवात्मा को सत्यासत्य का बोध किस प्रकार कराता है, इस सम्बन्ध में सत्यार्थप्रकाश सप्तम व द्वादश समुल्लास में महर्षि ने लिखा है कि पापाचरणोच्छा समय में भय, शंका, लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशंकता और आनन्दोत्साह उत्पन्न करके ईश्वर जीवात्मा को सत्यासत्य का बोध कराता है ।

आनन्द–जिसमें सब मुक्त जीव आनन्द को प्राप्त होते हैं और जो सब धर्मात्मा जीवों को आनन्द युक्त करता है, इससे ईश्वर का नाम आनन्द है । वस्तुतः आनन्द (Bliss) शब्द परमात्मा का पर्यायवाची है ।

इन तीनों शब्दों के विशेषण होने से परमेश्वर को 'सच्चिदानन्द. स्वरूप' कहते हैं । अर्थात् सत्स्वरूप होने से सत्, चित्स्वरूप होने से चित् और आनन्दस्वरूप होने से आनन्द और इन तीनों को मिलाकर सत्+चित्+आनन्द–सच्चिदानन्दस्वरूप कहा गया है ।

निराकार–जिसका कोई भी आकार नहीं और जो न कभी शरीर धारण करता है, इसलिए परमेश्वर का नाम निराकार है ।

सर्वशक्तिमान्–सर्वाः शक्तयो विद्यन्ते यस्मिन् स ''सर्वशक्तिमानीश्वरः'' जो अपने कार्य करने में किसी अन्य की सहायता की इच्छा नहीं करता, अपने ही सामर्थ्य से जो अपने सब काम पूरा करता है, इसलिए उस परमात्मा का नाम सर्वशक्तिमान है । यहाँ 'सर्व' शब्द का अर्थ 'सब' नहीं है बल्कि इसका अर्थ है 'योग्य सब' , अर्थात् जिसमें सम्पूर्ण योग्य शक्तियाँ हैं । इसका आश्य यह है अपना कार्य करने में 'निरपेक्षता,' अर्थात् अपना कार्य करने में किसी अन्य पर आश्रित नहीं । यही सर्वशक्तिमत्ता है । 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तु समर्थः' अर्थात् करने योग्य और न करने योग्य को करने की सामर्थ्य रखने वाले को सर्वशक्तिमान् नहीं कहते ।

न्यायकारी—न्यायकर्ता को न्यायकारी कहते हैं। न्याय उस पक्षपातरहित धर्मरूप आचरण को कहते हैं, जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों की परीक्षा से सत्य-सत्य सिद्ध हो। ईश्वर को न्यायकारी इसलिए कहते हैं कि उसका स्वभाव ही न्याय अर्थात् पक्षपातरहित धर्म करने का है।

दयालु—जो अभय का दाता, सत्यासत्य सर्वविद्याओं को जानने, सब सज्जनों की रक्षा करने और दुष्टों को यथायोग्य दण्ड देनेवाला है, इससे परमात्मा का नाम दयालु है।

अजन्मा—जो स्वयं जन्म नहीं लेता है, अर्थात् जन्मरहित को अजन्मा कहते हैं।

अनन्त—जिसका अन्त, अवधि, मर्यादा, अर्थात् इतना लम्बा, चौड़ा, छोटा, बड़ा है—ऐसा परिमाण नहीं है, अतः परमेश्वर का नाम 'अनन्त' है।

निर्विकार—जिसमें कोई विकार, अर्थात् दोष न हो।

अनादि—जिसका आदिकारण कोई भी नहीं है, उसको अनादि कहते हैं।

अनुपम—जो उपमारहित है, अर्थात् अत्युत्कृष्ट है।

सर्वाधार—जो विश्वभर का आधार शक्तिरूप है।

सर्वेश्वर—जो सबका ईश्वर है।

सर्वव्यापक—जो सब जगत में व्यापक है।

सर्वान्तर्यामी—जो सबके अन्तर को जानने वाला और सब जगत् को नियम में रखने वाला है।

अजर—जो जीर्ण, अर्थात् क्षीण नहीं होता, वह जरारहित अजर कहाता है।

अमर—जिसको मरणधर्म हो ही नहीं है और सदैव वर्तमान है।

अभय—जिसको किसी प्रकार का भय न हो।

नित्य—जो निश्चल, अविनाशी है।

पवित्र—जो स्वयं शुद्ध, सब अशुद्धियों से अलग और सबको पवित्र करने वाला है, उसको पवित्र कहते हैं।

सृष्टिकर्त्ता—जो सब जगत् की रचना करने वाला है ।

उपासना शब्द का अर्थ समीपस्थ होना है । इसका अभिप्राय अष्टांग योग से परमात्मा के नजदीक बैठकर उसके आनन्दस्वरूप में अपने आत्मा को लगाना ।

उसी की उपासना करनी योग्य है—जिस ईश्वर का लक्षण इस नियम में वर्णन किया गया है, उसी की उपासना करनी चाहिए । जो ऐसा न हो उसको न तो ईश्वर मानना चाहिए और न उसकी उपासना करनी चाहिए ।

यह नियम आकार में सब नियमों से बड़ा है । इसमें ईश्वर-सम्बन्धी दार्शनिक पक्ष बहुत सुन्दर रीति से प्रस्तुत किया गया है । यहाँ ईश्वर के जिन गुणों का वर्णन किया गया है, उनसे कई अवैदिक मन्तव्यों का स्वतः खण्डन हो जाता है । अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव व ब्रह्म में अभेद है ।

इस नियम में ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता बतलाकर जगत् को मिथ्या तथा ईश्वर की उपासना करनी योग्य है, कह कर उपासक जीव का ईश्वर से अभेद होने का खण्डन कर दिया गया है । सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी तथा उसी के शब्दों में अनेकेश्वरवाद का निषेध हो जाता है । सभी धार्मिक सम्प्रदायों ने ईश्वर को महत्तम सत्ता के रूप में स्वीकार किया है । उसके दर्शन की अभिलाषा भी सभी को रहती है । परन्तु योगाभ्यास तथा शुद्धान्तःकरण के बिना उसका दर्शन सम्भव नहीं है । अतः इनके अभाव में अनेक मतावलम्बियों ने ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में कल्पना से काम लेकर अपने मापदण्ड से ही उसका वर्णन किया है । मनुष्य स्वयं बिना शरीर व इन्द्रियों के कर्म करने में अशक्य है । अतः इन लोगों ने यही समझ लिया कि वह ईश्वर भी हमारी तरह देहधारी है । ईश्वर को निराकार बतलाकर उसके साकार होने का निषेध कर दिया गया है । यदि ईश्वर साकार हो तो उसके नाक, कान, हाथ, पैर आदि अवयवों का बनानेवाला कोई दूसरा होना चाहिए । यदि यह कहा जाए कि यह बिना किसी अन्य की अपेक्षा के स्वयमेव साकार हो जाता है तो इससे भी यह सिद्ध होता है कि साकार होने से पूर्व वह निराकार था । यदि

ईश्वर को व्यापक न मानोगे तो उसमें सर्वज्ञता आदि गुणों का भी अभाव मानना पड़ेगा। इस प्रकार के गुणों से रहित एकदेशी, साकार ईश्वर वस्तुतः ईश्वर तो नहीं होगा वह कोई सांसारिक बड़ा व्यक्ति अवश्य हो सकता है। ईश्वर के साकार न होने से उसके अवतार लेने का प्रश्न भी पैदा नहीं होता।

तर्क के आधार पर ईश्वर को एकदेशी नहीं माना जा सकता, क्योंकि जो एकदेशी होवे तो वह सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सबका स्रष्टा, सबका धर्ता और प्रलयकर्त्ता नहीं हो सकता। ऐसा न हो सकने का कारण यह है कि कर्त्ता जहाँ उपस्थित नहीं है वहाँ वह क्रिया नहीं कर सकता। इस नियम में ईश्वर को न्यायकारी व दयालु दोनों बतलाया गया है। वादी आपत्ति करता हुआ कहता है कि ये दोनों गुण परस्पर विरोधी हैं और तर्कशास्त्र के नियमानुसार एक वस्तु में दो परस्पर विरोधी गुण उपस्थित नहीं रह सकते। अतः ईश्वर या तो न्यायकारी है या दयालु—दोनों नहीं। सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास में महर्षि दयानन्द जी ने विस्तारपूर्वक इस शंका का समाधान प्रस्तुत किया है। वस्तुतः न्याय और दया में कोई भेद नहीं है। दोनों का प्रयोजन अपराधी को दुःख से हटाकर सुख पहुँचाना है। संसार में सुख-दुःख की व्यवस्था से ईश्वर का न्याय स्पष्ट है और उसकी दया तो यही है कि उसने संसार के समस्त पदार्थ उत्पन्न करके जीवों के कल्याण के लिए उन्हें दिये हुए हैं। ईश्वर को दयालु मानने वाले आर्यसमाजी का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह स्वयं भी ईश्वर के इस गुण को अपने जीवन में धारण कर अन्य जीवों पर दया करे, हिंसा से सदैव पृथक् रहे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मांसाहारी व्यक्ति आर्यसमाज का सदस्य नहीं बन सकता है।

'ईश्वर सर्वशक्तिमान है', के सही अभिप्राय को न समझकर अनेक सम्प्रदायों ने अनेक चमत्कारों को जन्म दिया है। उन्होंने यह समझा है कि सर्वशक्तिमान् होने से ईश्वर सब कुछ कर सकता है। वास्तव में सर्वशक्तिमान शब्द का यह सही अर्थ नहीं है। अनेक काम ऐसे हैं जिन्हें ईश्वर नहीं कर सकता। यथा—अपने समान दूसरे ईश्वर की रचना करना, अपनी हत्या करना, झूठ बोलना, चोरी करना आदि। सर्वशक्तिमान् शब्द का

अर्थ सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास में इस प्रकार लिखा है–'ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्य पाप की यथायोग्य व्यवस्था में किंचित भी किसी की सहायता नहीं लेता, अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब अपना काम पूर्ण कर लेता है।' परमेश्वर अपने और दूसरों के गुण कर्म-स्वभाव के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकता। उसके नियम सत्य व पूर्ण हैं, इसलिए उनमें वह परिवर्तन नहीं कर सकता।

इस नियम में ईश्वर को सृष्टिकर्ता कहा गया है। नास्तिक लोगों को ईश्वर का सृष्टिकर्त्ता होना स्वीकार नहीं है। सत्यार्थप्रकाश अष्टम समुल्लास में प्रश्नोत्तर रूप में महर्षि ने इस विषय पर प्रकाश डाला है।

प्रश्न–इस जगत् का कर्त्ता न था, न है और न होगा किन्तु अनादिकाल से यह जैसा-का-वैसा बना है। न कभी इसकी उत्पत्ति हुई न कभी विनाश होगा?

उत्तर–बिना कर्त्ता के कोई भी क्रिया या क्रिया-जन्य पदार्थ नहीं बन सकता। जिन पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग विशेष से रचना दीखती है, वे अनादि कभी नहीं हो सकते और जो संयोग से बनता है वह संयोग के पूर्व नहीं होता और वियोग के अन्त में नहीं रहता। चूंकि यह जगत् कार्यरूप है, अतः इसका निमित्तकारण अवश्य होना चाहिए।

इस पर वादी कहता है कि जो ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानते हो तो ईश्वर का कर्ता कौन है? इसके उत्तर में महर्षि का कथन है कि –'कर्त्ता का कर्त्ता और कारण का कारण कोई भी नहीं हो सकता, क्योंकि कर्त्ता और कारण के होने से ही कार्य होता है। जिसमें संयोग-वियोग नहीं होता, जो प्रथम संयोग-वियोग का कारण है, उसका कर्त्ता वा कारण किसी प्रकार नहीं हो सकता।

धार्मिक क्षेत्र में ईश्वर की सगुणता व निर्गुणता के प्रश्न पर भी पर्याप्त विवाद रहता है। कुछ लोगों का विचार है कि ईश्वर सगुण है, जबकि दूसरे लोग उसे निर्गुण समझते हैं। इस विचारधारा के मूल में यह भ्रान्ति काम कर रही प्रतीत होती है कि ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों नहीं हो सकता, क्योंकि

ये दोनों परस्पर विरोधी गुण हैं और एक वस्तु में दो परस्पर विरोधी गुण रह नहीं सकते जैसाकि हम पूर्व लिख चुके हैं। इस भ्रान्ति के निवारण हेतु महर्षि दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास में लिखा है– जो गुणों से सहित वह सगुण और जो गुणों से रहित वह निर्गुण कहलाता है। अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से सहित और दूसरे विरोधी के गुणों से रहित होने से सब पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है कि जिसमें केवल निर्गुणता वा केवल सगुणता हो, किन्तु एक ही में सगुणता और निर्गुणता सदा रहती है। वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञान-बलादि गुणों से सहित होने से सगुण और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से पृथक् होने से निर्गुण कहलाता है।'' प्रस्तुत नियम में ईश्वर की सगुणता व निर्गुणता दोनों का समावेश है। सच्चिदानन्द-स्वरूप, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता से उसकी सगुणता और निराकार, अजन्मा, अनंत, निर्विकार, अनादि, अनुपम, अजर, अमर, अभय से उसकी निर्गुणता का परिचय मिलता है।

इस नियम में प्रयुक्त शब्दों का चयन एवं क्रम बड़ा बुद्धिसंगत है। शब्दों के क्रम में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। एक काल्पनिक संवाद से हम अपने विचार को स्पष्ट करेंगे। एक जिज्ञासु महर्षि दयानन्दजी से ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रश्न करता है और महर्षि उसका उत्तर देते हैं। इसी क्रम में जिज्ञासु प्रश्न करता है कि ईश्वर कैसा है? (उत्तर) ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है। ईश्वर आनन्दस्वरूप है, इसलिए वह हमसे श्रेष्ठ व उत्तम है। अपने से उत्तम वस्तु को देखने की इच्छा स्वभावतः सबमें रहती है अतः जिज्ञासु इसी स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रश्न करता है कि उस ईश्वर को मुझे दिखाओ। महर्षि जिज्ञासु के अभिप्राय को समझ लेते हैं कि वह इन भौतिक नेत्रों से ही ईश्वर के दर्शन करना चाहता है जोकि सम्भव नहीं है। अतः महर्षि उत्तर देते हैं कि वह ईश्वर तो निराकार है। यह सुनकर जिज्ञासु का हृदय बैठ जाता है, जैसेकि दूध में उफान आदि पर पानी का छींटा मारने से दूध नीचे बैठ जाता है। जिज्ञासु सोचता है कि जो ईश्वर आकार-रहित है उसमें शक्ति भी नहीं होगी। ऐसी शंका करने पर महर्षि

कहते हैं कि बात ऐसी नहीं है, वह ईश्वर तो सर्वशक्तिमान् है ।

यहाँ यह शंका हुई कि जो राजा अपने राज्य में सर्वशक्तिमान् होता है, जिसके ऊपर कोई अंकुश नहीं होता वह प्रायः अत्याचारी हो जाता है, उसके यहाँ न्याय के लिए कोई स्थान नहीं रहता । इस शंका के किये जाने पर महर्षि उत्तर देते हैं कि वह ईश्वर तो न्यायकारी है । प्रायः न्याय और दया को विरोधी समझकर यह धारणा बना ली गई है कि ईश्वर न्यायकारी और दयालु दोनों नहीं हो सकता । इस भ्रान्ति का निवारण करने के लिए ही महर्षि ने लिखा है कि ईश्वर न्यायकारी के साथ-साथ दयालु भी है । किसी व्यक्ति का पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिए हम उसका नाम जानने के साथ उसकी आयु की जानकारी भी प्राप्त करते हैं। यह जानने के बाद कि ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी व दयालु है, जिज्ञासु पूछता है कि ऐसे महान् ईश्वर का जन्म कब हुआ था? उत्तर में महर्षि कहते हैं कि ईश्वर का जन्म कभी नहीं होता, वह तो अजन्मा है । जिसका जन्म नहीं उसका अन्त भी नहीं । इसी नियम से ईश्वर अनन्त है । जिन पदार्थों का जन्म होता है उनका अन्त भी अवश्यम्भावी है जैसे मनुष्य देह और यह भी निर्विवाद है कि जिसका जन्म व अन्त होगा उसमें मनुष्य-देहवत् विकार अवश्य उत्पन्न होंगे ।

इसके विपरीत, चूंकि ईश्वर अजन्मा व अनन्त है इसीलिए वह निर्विकार है, चूंकि वह अजन्मा और अनन्त है, इसलिए वह अनादि भी है । यह सब कुछ सुनकर जिज्ञासु कहता है कि—हे महर्षे! मेरी समझ में यह सब कुछ नहीं आता । आप मुझ पर दया करके कुछ उपमाओं के सहारे से उस ईश्वर का स्वरूप समझाइए । इस पर महर्षि कहते हैं कि वह ईश्वर तो अनुपम है । भौतिक उपमाओं से अभौतिक ईश्वर को नहीं समझाया जा सकता है । जिज्ञासु पूछता है कि अच्छा यह तो बतलाइए कि उस ईश्वर से मेरा कोई सम्बन्ध है या नहीं? इस पर महर्षि कहते हैं कि तुझसे ही नहीं वरन् समस्त जगत् से उसका सम्बन्ध है। वह सर्वाधार व सर्वेश्वर है । इसीलिए वह सर्वव्यापक व सर्वान्तर्यामी भी है । यहाँ जिज्ञासु को यह शंका होती है कि जो ईश्वर सर्वाधार व सर्वेश्वर है, वह सारे जगत् की रचना व धारणा करते-करते

जीर्ण हो जाता होगा। इस शंका के निवारण में महर्षि कहते हैं कि वह ईश्वर अजर व अमर है, चूंकि वह न बूढ़ा होता और न कभी मरता है, इसलिए उसे कोई भय नहीं। अतः वह अभय है। अजर, अमर, अभय होने का फल है उसका नित्य व पवित्र होना। जिज्ञासु पूछता है कि वह ईश्वर क्या करता है? उत्तर में कहा गया कि वह सृष्टिकर्ता है। जिज्ञासु ने जब ईश्वर का स्वरूप समझ लिया तो महर्षि ने उसको उसके कर्तव्य की ओर संकेत दिया कि तू उसी ईश्वर की उपासना किया कर और किसी की नहीं।

इस नियम का आधार–वेद मंत्र

1. स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।। –यजु. 40.8

अर्थ–परमात्मा सर्वव्यापक, शीघ्रकारी और अनन्त बलवान्, शुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वोपरि, विराजमान् सनातन, स्वयं सिद्ध, जीव को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का बोध वेद द्वारा कराता है। वह अजन्मा, निराकार शुद्ध और पवित्र है।

2. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्ण तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।। –यजु. 31-18

अर्थ – वह परमेश्वर सबसे बड़ा, सबका प्रकाश करने वाला और अविद्या-अन्धकार अर्थात् अज्ञान आदि दोष से अलग है। उसी की उपासना सबको करनी उचित है उससे भिन्न की नहीं।

Function of God–

(i) the creation of the Universe
(ii) its sustenance and regulation
(iii) the dissolution of the creation
(iv) and his management & administration of Justice.

तीसरा नियम

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

इस नियम के दो भाग हैं। प्रथम भाग में वेद को सब सत्य विद्याओं का पुस्तक कहा गया है। अपनी संज्ञा करके तो वेद संख्या में एक ही है, इसी कारण इस नियम से वह एक वचन से ग्रहण किया गया है। इससे यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि अर्थभेद से भी पुस्तक रूप में वह एक ही है। इस रूप में वेद चार हैं जिनके नाम हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद। नियम के द्वितीय भाग में आर्यों के मुख्य कर्त्तव्य का निर्देश किया गया है।

अब से एक शती पूर्व वेद को सब सत्य विद्याओं का पुस्तक बतलाकर महर्षि दयानन्दजी ने बड़े साहस का परिचय दिया है। इस पर संक्षेप में यहाँ विचार करना आवश्यक है। अब से लगभग 5000 वर्षों पूर्व महाभारत युद्ध के पश्चात् भारत ही नहीं सारे संसार का पतन आरम्भ हो चुका था। सच्चे वैदिक विद्वानों के अभाव में वेद के सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ फैलने लगी थीं। आर्यों के हृदय में वेद के प्रति आस्था तो रही, किन्तु इस आस्था का उपयोग घृणित अनैतिक कृत्यों और अन्धविश्वासों के समर्थन में किया जाने लगा। मध्यकाल में शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, बल्लभाचार्य, सायण, उव्वट, महीधर आदि भाष्यकारों ने वेद को परम प्रमाण माना, किन्तु उन्होंने कुछ ऐसी भयंकर भूलें भी कीं जिनके कारण अनेक पाश्चात्य विद्वानों और उनका अन्धानुकरण करने वाले भारतीय विद्वानों ने वेदों के विषय में अनेक भ्रान्त धारणाएँ बना लीं। इनमें से कुछ इस प्रकार है—

1. वेद शास्त्र से अभिप्राय ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद इन चार मन्त्रसंहिताओं से है। सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने इन चारों वेदों का प्रकाश किया। वेदों की व्याख्यारूप में बहुत काल पश्चात् ऋषियों ने ब्राह्मणग्रंथ, आरण्यक व उपनिषदों की रचना की। केवल चार वेद ही ईश्वरकृत होने से स्वतः प्रमाण हैं, शेष ग्रंथ परतः प्रमाण हैं। इन मध्यकालीन आचार्यों और भाष्यकारों ने वेदोतर ग्रंथों—ब्राह्मण, आरण्यक व उपनिषदों का भी वेद में समावेश कर लिया। ब्राह्मणग्रंथ व उपनिषदों में नचिकेता, याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, गार्गी, जनक, अश्वपति, हरिश्चन्द्र इत्यादि का इतिहास है। इन ग्रंथों को वेद मानने से एक और भ्रान्ति फैल गई कि वेद में इतिहास है। सायण, महीधर और उव्वट आदि के भाष्य का अनुकरण करके पाश्चात्य विद्वानों ने इस विचारधारा को बहुत फैलाया। वेदों में इतिहास की भ्रान्ति का एक मुख्य कारण यह है कि नाम वेदों में उपलब्ध हो जाते हैं। वेदों में आये हुए

ऐसे अनेक नाम किसी व्यक्ति या स्थान-विशेष के वाचक न होकर यौगिक है और यौगिक होने के कारण ही गुणवाची हैं ।

2. कुछ आचार्यों ने वेद-मंत्रों के आधार पर यज्ञों में पशुहिंसा का विधान सिद्ध कर दिया जबकि मन्त्रसंहिताओं में इसका कहीं भी विधान नहीं है । इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि अनेक विचारशील लोगों को वेदों से घृणा हो गई ।

3. इन भाष्यकारों ने अपने ग्रंथों में एक ईश्वर के स्थान पर सैकड़ों देवी-देवताओं की पूजा का विधान किया जो वस्तुतः वैदिक-शिक्षा के सर्वथा विरुद्ध था । वेदों में सैकड़ों मंत्र ऐसे हैं, जिनमें स्पष्टतया एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रसंग में महर्षि दयानंद जी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है–

(प्रश्न) कितने ही आजकल के आर्य और यूरोप देशवासी, अर्थात् अंग्रेज़ आदि लोग इसमें ऐसी शंका करते हैं कि वेदों में पृथिव्यादि भूतों की पूजा कही है । वे लोग यह भी कहते हैं कि पहिले आर्य लोग भूतों की पूजा करते थे, फिर पूजते-पूजते बहुत काल पीछे उन्होंने ईश्वर को भी पूज्य जाना था ।

(उत्तर) यह उनका कहना मिथ्या है, क्योंकि आर्य लोग अग्नि आदि नामों करके वेदोक्त प्रमाण से एक परमेश्वर की ही उपासना करते चले आये हैं ।

4. इन लोगों ने वेद-मंत्रों के ऐसे अर्थ किये हैं, जो सर्वथा असत्य, अश्लील, अयुक्त और असम्भव है । ''गणानां त्वा गणपति...'' मंत्र का महीधर ने इतना अश्लील अर्थ किया है कि उसको पढ़कर लज्जा के मारे सिर नीचे झुक जाता है । महर्षि दयानन्द जी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इस मंत्र का सही अर्थ देने के बाद दुःख से लिखते हैं कि–

''विचारना चाहिए कि इस सत्य अर्थ के गुप्त होने और मिथ्या नवीन अर्थों के प्रचार होने से मनुष्यों को भ्रान्त करके वेदों का कितना अपमान कराया है ।''

जहाँ तक पाश्चात्य वैदिक विद्वानों का सम्बन्ध है, वे इन मध्यकालीन

भारतीय आचार्यों व भाष्यकारों से एक कदम आगे बढ़ गये। इन लोगों ने भारतीय आचार्यों की भाँति वेदों को पवित्र व ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार न कर इतना मात्र कहा कि वे मानव पुस्तकालय में प्राचीनतम ग्रंथ हैं। इन लोगों ने मध्यकालीन आचार्यों के भाष्यों का अनुवाद किया है, अतः जो दोष उनके भाष्यों में थे वे इनके अनुवाद में भी रहे। एक दुर्भाग्यपूर्ण बात यह रही कि इन पाश्चात्य विद्वानों के मन में विकासवाद में विश्वास के कारण यह भावना घर किये हुए थी कि चूँकि वेदों की रचना मानवजाति के प्रारम्भिक काल में असभ्य, जंगली व अशिक्षित लोगों ने की थी, इसलिए वेदों में कोई उच्चकोटि का विज्ञान व दार्शनिक विचार नहीं मिल सकते। प्रो० मैक्समूलर जैसे विद्वान् ने एक स्थान पर लिख ही डाला–

That the Veda is full of childish, silly even to our minds monstrus conceptions, who whould deny? But even these monstrosities are interesting and instructive.

वेद मूर्खतापूर्ण और राक्षस के समान विकराल बेहूदा विचारों से भरपूर है, इससे कौन इन्कार कर सकता है, किन्तु ये भी मनोरंजक व शिक्षाप्रद हैं।

ऐसी विषम स्थिति में महर्षि दयानन्द जी का प्रादुर्भाव हुआ था। अपने अगाध पाण्डित्य से उन्होंने सहस्रों वर्षों से जमा होते हुए कूड़े-कर्कट के नीचे से वेदों को निकालकर ऊपर रख दिया। उन्होंने इस भ्रान्त धारणा को दूर किया कि वेद धूर्त और निशाचरों की पुस्तक हैं और ये गडरियों के गीत हैं। इस भ्रान्त धारणा के स्थान पर उन्होने आर्यसमाज के प्रस्तुत नियम में यह स्थापना की कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। इस सम्बन्ध में कुछ लोग ये शंका करते हैं कि क्या वेदों में सभी प्रकार की विद्याएँ उपस्थित हैं। गत 50 वर्षों में विज्ञान ने आश्चर्यजनक उन्नति की है। ऐसे अनेक यन्त्रों का निर्माण किया है, जिनकी हमारे पूर्वज कल्पना भी नहीं कर सकते थे। मानव ज्ञान क्रमशः विकास की ओर अग्रसर है। क्या वेद-ज्ञान इस नियम का

अपवाद है। इसके उत्तर में हम यही कहना चाहते हैं कि ईश्वर के नियम व उसका ज्ञान एकरस, अखण्डित व अपरिवर्तनशील होता है। इसलिए वेद में वर्णित ज्ञान में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता। वेद के अन्दर जो नाना प्रकार के विज्ञान के सिद्धान्त वर्णित किये हैं, वे गणितविद्या के समान ऐसे सत्य हैं कि उनमें कुछ भी संशोधन व परिवर्तन नहीं हो सकता। वेद में सब सत्य विद्याएँ हैं, कहने का आशय यह है कि बीजरूप में सब सत्य विद्या उसमें हैं। अपनी बुद्धि से आगे चलकर मनुष्य उस बीजरूप विद्या का विस्तार करता है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में महर्षि लिखते हैं कि –

वेदों में दो विद्या हैं–एक अपरा, दूसरी परा। इसमें से अपरा यह है कि जिससे पृथिवी और तृण से लेके प्रकृतिपर्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना होता है और दूसरी परा कि जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है। यह परा-विद्या अपरा-विद्या से अत्यन्त उत्तम है, क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल परा-विद्या है।

–वेदविषयविचार

हमारा विश्वास है कि वेद में परमेश्वर ने मनुष्य के लिए उपयोगी सब प्रकार का ज्ञान दे दिया है। वेद में मनुष्य के वैयक्तिक, पारिवारिक व सामाजिक कर्त्तव्यों का उपदेश है अपने प्रति, अन्यों के प्रति व ईश्वर के प्रति हमारे कर्त्तव्य कर्मों का वहाँ वर्णन किया गया है। अनेक प्रकार की भौतिक व आध्यात्मिक विद्याओं का वेद में प्रतिपादन किया गया है। कुछ विद्याओं का यहाँ उल्लेखमात्र पर्याप्त होगा। वे हैं–राजनीति, सैन्य एवं युद्ध, शिक्षाविज्ञान, ऋतुविज्ञान, अग्निविज्ञान, विमानविज्ञान, गणितविज्ञान, चिकित्साविज्ञान, यातायात, सिंचाई, उद्योग-धन्धे, कृषिविज्ञान, पशु-पक्षीपालन, गृह-निर्माण इत्यादि। महर्षि ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है–"वेदों में अवयवरूप विषय तो अनेक हैं, परन्तु उनमें से चार मुख्य हैं–(1) एक विज्ञान, अर्थात् सब पदार्थों को यथार्थ जानना, (2) दूसरा कर्म, (3) उपासना और (4) चौथा ज्ञान है। इसी पुस्तक में अन्यत्र लिखा है कि वेद में सम्पूर्ण विद्या हैं, उनमें मिथ्या कुछ भी नहीं है। इस तथ्य की जानकारी उस

समय होगी जबकि चारों वेद का भाष्य बन और छपकर सब बुद्धिमानों के ज्ञानगोचर होगा, तब सब किसी को उत्तम विद्यापुस्तक वेद का परमेश्वररचित होना भूगोल भर में विदित हो जाएगा और यह भी प्रगट हो जाएगा कि ईश्वर-कृत सत्य पुस्तक वेद ही है वा कोई दूसरा भी हो सकता है ।''

प्रस्तुत नियम के दूसरे भाग में महर्षि ने आर्यों के परम धर्म को बतलाया है और वह है वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना । इस नियम के माध्यम से महर्षि ने मानवमात्र के सामने एक क्रान्तिकारी कार्यक्रम प्रस्तुत किया है । महर्षि के प्रादुर्भाव से पूर्व सभी मनुष्यों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं था । जन्मजात ब्राह्मणों तक ही वेद का पढ़ना-पढ़ाना सीमित हो चुका था । शूद्र और सब वर्णों की स्त्रियों को एक ही श्रेणी में रखकर उन्हें वेद-ज्ञान से वंचित कर दिया गया था । ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में श्री शंकराचार्य ने लिखा है कि–

''इसलिए भी शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं, क्योंकि स्मृति के द्वारा इनके लिए वेद के सुनने का, पढ़ने का निषेध करते हुए स्मृति में कहा है कि यदि शूद्र वेद के शब्द सुन ले तो उसके कान को सीसे और लाख से भर देना चाहिए । शूद्र चलता-फिरता शमशान है, इसलिए उसके समीप अध्ययन भी नहीं करना चाहिये । वह बिना सुने कैसे अध्ययन कर सकता है? वेद के उच्चारण करने पर जीभ काट डालने और शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डालने का विधान है ।'' श्री शंकराचार्य स्त्रियों का भी वेदाध्ययनाधिकार नहीं मानते थे । श्रीरामानुजाचार्य का भी यही मत था । हज़ारों वर्षों में महर्षि दयानन्द पहले महापुरुष थे जिन्होंने इस अन्याय के विरोध में अपनी आवाज़ उठाई । इस विषय में महर्षि के मन्तव्य को सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास से उद्धृत करते हैं–

प्रश्न–क्या स्त्री और शूद्र वेद पढ़ें? जो ये पढ़ेंगे तो हम फिर क्या करेंगे? और इनके पढ़ने में प्रमाण भी नहीं है जैसा यह निषेध है–स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताममिति श्रुते । स्त्री और शूद्र न पढ़े यह श्रुति है ।

उत्तर–सब स्त्री और पुरुष, अर्थात् मनुष्यमात्र को पढ़ने का अधिकार है । तुम कुआँ में पड़ो और यह श्रुति तुम्हारी कपोल-कल्पना से हुई

है। किसी प्रामाणिक ग्रंथ की नहीं और सब मनुष्यों के वेदादिशास्त्र पढ़ने-सुनने के अधिकार है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।।

परमेश्वर कहता है कि जैसे मैं सब मनुष्यों के लिए इस कल्याण, अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का उपदेश करता हूँ, वैसे तुम भी किया करो।

आगे चलकर महर्षि लिखते हैं—क्या परमेश्वर शूद्रों का भला करना नहीं चाहता? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों को पढ़ने-सुनने का शूद्रों के लिए निषेध और द्विजों के लिए विधि करे? जो परमेश्वर का अभिप्राय शूद्रादि के पढ़ाने-सुनाने का न होता तो इनके शरीर में वाक् और श्रोत्र-इन्द्रिय क्यों रचता? जैसे परमात्मा ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिए बनाये हैं, वैसे ही वेद भी सबके लिए प्रकाशित किये हैं और जहाँ कहीं निषेध किया है उसका यह अभिप्राय है कि जिसको पढ़ने-पढ़ाने से कुछ भी न आवे वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है। उसका पढ़ना-पढ़ाना व्यर्थ है और जो स्त्रियों के पढ़ने का निषेध करते हो वह तुम्हारी मूर्खता स्वार्थता और निर्बुद्धिता का प्रभाव है। देखो वेद में कन्याओं के पढ़ने का प्रमाण—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। —अथर्व 11.5.18

जैसे लड़के ब्रह्मचर्य सेवन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवती विदुषी, अपने अनुकूल प्रिय सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं वैसे कुमारी ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादिशास्त्रों को पढ़, पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवती होके पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश प्रिय विद्वान् पूर्ण युवावस्था युक्त पुरुष को प्राप्त होवे। इसलिए स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिए।

इस नियम में सभी आर्यों को वेद के पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनाने का आदेश दिया गया है। इससे यह शंका उत्पन्न होती है कि आर्यसमाज

केवल ब्राह्मणों का समाज है, क्योंकि वेद अध्ययन-अध्यापन का कार्य केवल ब्राह्मणों का होता है। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का मुख्य कार्य—क्रमशः रक्षा करना, धनोपार्जन करना व सेवा करना है। यदि ये वर्णस्थ लोग भी वेदाध्ययन में ही रत रहें तो सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाए। इस शंका के निवारणार्थ यहाँ सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास से उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—

''क्योंकि जो ब्राह्मण हैं वे ही केवल विद्याभ्यास करें और क्षत्रियादि न करें तो विद्या, धर्म, राज्य और धनादि की वृद्धि कभी नहीं हो सकती। ..... इसलिए ब्राह्मण भी अपना कल्याण चाहें तो क्षत्रियादि को वेदादि सत्य शास्त्र का अभ्यास अधिक प्रयत्न से करावें।.... इसलिए सब वर्णों के स्त्री-पुरुषों में विद्या और धर्म का प्रचार अवश्य होना चाहिए।'' स्पष्ट है कि अपने-अपने वर्ण के लिए निर्धारित कर्त्तव्य कर्मों का पालन करने के लिए वेद का पढ़ना सभी वर्णों के लिए आवश्यक है। विद्या के अभाव में कोई भी व्यक्ति अपने वर्ण के कर्त्तव्यों का पालन सुचारू रूप से करने में समर्थ न हो सकेगा।

यहाँ दो बातें और विचारणीय हैं। प्रथम यह कि आर्यसमाज के सदस्यों का दोहरा कर्त्तव्य है। उनके लिए वेद का पढ़ना ही पर्याप्त नहीं है, उसे पढ़कर तदुपरांत अन्यों को पढ़ाना भी उनका कर्त्तव्य है, किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। पढ़ने और पढ़ाने के साथ ही वेद को सुनना और सुनाना भी चाहिए। जो व्यक्ति स्वयं पढ़ नहीं सकता वह पढ़ा भी नहीं सकेगा, किन्तु वह दूसरों से वेदोपदेश सुन तो सकता है और सुने हुए उपदेश को दूसरों को भी सुना सकता है। इस प्रक्रिया का लाभ यह होगा कि वेदज्ञान का प्रचार बड़ी सुगमता से सभी लोगों में हो सकेगा। पढ़ने-पढ़ाने के लिए विद्यालय और सुनने-सुनाने के लिए मंच का होना आवश्यक है।

दूसरी बात यह है कि इस नियम में वेद के पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनाने को केवल धर्म ही नहीं वरन् परम धर्म बतलाया गया है। अग्नि का धर्म ताप या उष्णता है। यदि अग्नि में ताप न रहे तो उसे अग्नि की संज्ञा नहीं दी जा सकती, उसे तो राख कहेंगे। इसी भाँति आर्यसमाज के सदस्यों का परम धर्म वेद का पढ़ना-पढ़ाना व सुनना-सुनाना है। यदि कोई आर्य इस धर्म

का पालन नहीं करता तो उसे हम मानव तो कह सकते हैं, उसे प्रोफेसर, वकील, डॉक्टर, व्यापारी सभी कुछ कह सकते हैं, परन्तु उसे आर्यसमाजी कदापि नहीं कह सकते। यह भी सत्य है कि वेद का पढ़ना-पढ़ाना तभी सम्भव है जबकि हमारे पास वेद पुस्तक उपस्थित हो। इसका अर्थ यह निकला कि प्रत्येक आर्यसमाजी के घर में वेद-ग्रंथों का होना आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं है, तो वह आर्यसमाजी कहलाने का अधिकारी नहीं है।

यह नियम आर्यसमाज का व्यावर्त्तक (पूर्व की ओर ले जाने वाला) गुण है, जो इसे अन्य साम्प्रदायिक संगठनों से अलग कर देता है। आर्यसमाज की भाँति ईश्वर-विश्वासी संगठन अनेक हैं। पौराणिक हिन्दू, मुसलमान्, ईसाई आदि सभी ईश्वर में विश्वास रखते हैं। नैतिकता के अनेक गुणों में आर्यसमाज की भाँति उनका भी विश्वास है, किन्तु वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना एक ऐसा धर्म है, जो केवल आर्यसमाज के पास है।

वेदाध्ययन के लिए महर्षि दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास में कतिपय पूर्व दशाओं का निर्धारण किया है जिनकी ओर आर्यसमाज को विशेष ध्यान देना चाहिए। वेद का अध्ययन तभी सम्भव है जबकि उससे पहले कई वर्ष तक महाभाष्य, मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण और महाभारत के अच्छे प्रकरण, षड्दर्शन, दशोपनिषद् और चारों ब्राह्मण-ग्रंथों का अध्ययन पूर्ण हो जाए। इस प्रकार इस नियम का अन्तर्निहित क्षेत्र अति व्यापक है।

इस नियम के आधार—वेद मंत्र

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्म राजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्याच च स्वाय चारणाय च।।

—यजु. 26.2

इस मंत्र का अर्थ ऊपर दिया जा चुका है।

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे।। —अथर्व. 1.1.1

भावार्थ—तृण से लेकर परमेश्वर पर्यन्त जो पदार्थ संसार की स्थिति के कारण हैं, उन सबका तत्त्वज्ञान वेदवाणी के स्वामी सर्वगुरु जगदीश्वर की कृपा से सब मनुष्य वेद द्वारा प्राप्त करें।

चौथा नियम

सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज से पृथक इसके जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। समाज में रहता हुआ वह कई प्रकार के समूह बना लेता है। एक दृष्टि से सभी समूहों को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है—स्वसमूह और परसमूह। स्वसमूह के सभी सदस्य अपने को उस समूह के अन्दर रहने वाला मानते हैं और परसमूह के सदस्यों को अपने से बाह्य समझते हैं। उनके प्रति उपेक्षा, तिरस्कार, विरोध, भय, रोष और कभी-कभी घृणा भी रखते हैं। अपना परिवार, अपनी जाति और अपना मज़हब स्वसमूह है। पराया परिवार, परायी जाति और पराया मज़हब परसमूह है। स्वसमूह और परसमूह में खींचातानी रहती है। इसी को तनाव या संघर्ष कहते हैं। सामाजिक संघर्ष को बढ़ावा देने में पूर्वाग्रह का बहुत बड़ा हाथ रहता है। इसके कारण एक स्वसमूह के लोग अपने को परसमूह के सदस्यों से श्रेष्ठ और अधिक बुद्धिमान् मानने लगते हैं। अपनी निकृष्टतम वस्तु भी श्रेष्ठ है और पराई श्रेष्ठतम वस्तु भी निकृष्ट है। इसी भावना से समाज में कलह व अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य अपना विवेक खो बैठता है। सामूहिक तनाव की शान्ति के अनेक उपाय समय-समय पर भिन्न-भिन्न विचारकों ने सुझाये हैं। हमारी सम्मति में स्थायी शान्ति प्राप्त करने का स्वर्णिम उपाय आर्यसमाज के प्रस्तुत नियम में बतलाया गया है। बिना पूर्वाग्रह व पक्षपात के जो भी सत्य हो (चाहे वह अपने अनुकूल हो वा प्रतिकूल) उसे ग्रहण करना चाहिए और असत्य का परित्याग करना चाहिए।

इस नियम के होते हुए भी कई अविवेकी पुरुषों ने आर्यसमाज पर हठ, दुराग्रह व पक्षपात का मिथ्या आरोप किया है। इन लोगों के विचार में आर्यसमाजी अपनी-अपनी कहता है, दूसरे की कभी नहीं सुनता और तार्किक होने के कारण अपनी असत्य बात को सत्य और दूसरे की सत्य बात को असत्य सिद्ध कर देता है। इन आक्षेपकर्त्ताओं का ध्यान हम महर्षि दयानन्दजी के कतिपय वाक्यों की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं, जिनके आधार पर

प्रस्तुत नियम की रचना की गई है। महर्षि दयानन्द को सत्य अति प्रिय है, इसीलिए उन्होंने अपने अमर ग्रंथ का नाम 'सत्यार्थप्रकाश' रखा है इस सन्दर्भ में वे लिखते हैं—'मेरा इस ग्रंथ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य-सत्य अर्थ का प्रकाश करना है, अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है।'

महर्षि दयानन्द ने कहीं भी अपने को साम्प्रदायिक पैग़म्बरों की भाँति पूर्ण ज्ञानी नहीं कहा है। पूर्ण ज्ञानी केवल ईश्वर है, मनुष्य अल्पज्ञ व अल्पशक्तिवाला है। इसलिए उससे भूल हो सकती है। इसी भावना से महर्षि लिखते हैं—'इस ग्रंथ में जो कहीं भूलचूक से अथवा शोधने तथा छापने में भूलचूक रह जाए उसको जानने-जनाने पर जैसा वह सत्य होगा वैसा ही कर दिया जाएगा।' कितनी निरभिमानता व निष्पक्षता थी महर्षि में? हमें इस बात पर गौरव है कि इन 100 वर्षों में अभी तक महर्षि के सिद्धान्तों में कोई भी व्यक्ति एक भी त्रुटि सिद्ध नहीं कर सका।

महर्षि मानव-स्वभाव के दुर्बल पक्ष से पूर्ण परिचित थे। इसलिए वे लिखते हैं—'और जो कोई पक्षपात से अन्यथा शंका, खण्डन वा मण्डन करेगा, उस पर ध्यान न दिया जाएगा। हाँ, जो मनुष्यमात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा उसको सत्य-सत्य समझने पर उसका मत संगृहीत होगा।' महर्षि दयानन्द ने स्पष्टतः इस तथ्य को स्वीकार किया है कि सभी मतों में विद्वान् हुए हैं। यह बात भिन्न हैं कि पक्षपात का परित्याग करने में वे कहाँ तक सफल हो सके हैं। महर्षि का कथन है, 'यद्यपि आजकल बहुत-से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं वे पक्षपात छोड़ सर्वतन्त्र सिद्धान्त, अर्थात् जो-जो बातें सबके अनुकूल सबमें सत्य हैं उनका ग्रहण और जो एक-दूसरे से विरुद्ध बातें हैं, उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्तें-वर्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे।'

आर्यसमाज पर पक्षपात का दोषारोपण करने वाले महानुभावों से निवेदन है कि वे गम्भीरता से महर्षि के इन वाक्यों पर विचार करें—'यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ, तथापि जैसे इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर यथातथ्य प्रकाश करता हूँ वैसे

ही दूसरे देशस्थ वा मत वालों के साथ भी वर्तता हूँ। जैसा स्वदेश वालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय में वर्तता हूँ, वैसा विदेशियों के साथ भी तथा सब सज्जनों को भी वर्त्तना योग्य है, क्योंकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति-मण्डन और प्रचार करते और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्ध करने में तत्पर होते हैं वैसे मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर हैं। ''सत्य का गला घोंटने और स्वार्थ-सिद्धि के लिए अनेक पाखण्डियों ने नये-नये मतों को जन्म देकर अपने को ईश्वर घोषित किया हुआ है। इस दुष्प्रवृत्ति का घोर विरोध करते हुए महर्षि कहते हैं—''मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो सत्य है, उसको मानना-मनवाना और जो असत्य है, उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त में प्रचलति मतों मे से किसी एक मत का आग्रही होता।''

आर्यसमाज पर हट, दुराग्रह व पक्षपात के मिथ्यारोप का निराकरण करने के उपरान्त प्रस्तुत नियम में प्रयुक्त 'सत्य' पद के अर्थ पर विचार किया जाता है। प्रस्तुत नियम में सत्य के ग्रहण करने और असत्य के परित्याग करने का विधान है। ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब सत्यासत्य का बोध हो जाए। इसीलिए महर्षि लिखते हैं—'पक्षपात छोड़ कर इसको देखने से सत्यासत्य मत सबको विदित हो जाएगा। पश्चात् सबको अपनी-अपनी समझ के अनुसार सत्य मत का ग्रहण करना और असत्य मत को छोड़ना सहज होगा।

लोकमत में जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही जानना सत्य और उसके विपरीत जानना असत्य कहलाता है। पुस्तक को पुस्तक और कलम को कलम जानना सत्य और विपरीत जानना असत्य होता है। सत्य की यह परिभाषा अपूर्ण है। अनेक अवसर ऐसे आते हैं जब हम किसी वस्तु के वास्तविक रूप को जानते तो हैं, परन्तु उसको वैसा कहते नहीं हैं। आत्मा और मन में जैसा जानते हैं, ठीक वैसा वाणी से नहीं कह पाते। यह सत्य नहीं वरन् असत्य है। किसी व्यक्ति ने एक घटना को अपने नेत्रों से देखा है। वह

उसका सही रूप जानता है और वैसा ही अन्य पुरुषों के सम्मुख मौखिक कहता है, परन्तु साक्षी के समय वैसा लिखकर देने के लिए तैयार नहीं है । ऐसे भी व्यक्ति मिलते हैं जो किसी पदार्थ के सही रूप को जानते हैं, ठीक वैसा ही कहते भी हैं और वैसा ही लिखकर भी दे देते हैं, परन्तु आचरण में वैसा नहीं लाते ।

'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ।' एक व्यक्ति इस नियम को इसी रूप में कहता भी है और लिखता भी है, परन्तु इसे आचरण में नहीं लाता, इसलिए इस व्यक्ति को सत्यवादी नहीं कहा जा सकता, अतः सत्य की पूर्ण परिभाषा यह है—''जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहलाता है ।' सत्य भाषण जोकि तेरे आत्मा, मन, वाणी में है वह सत्य और जो इससे विपरीत हैं, वह मिथ्याभाषण है ।''सत्य त्रिकालाबाधित होता है, वह तीनों कालों में एक सा ही रहता है । दो और दो का योग सदैव चार होता है । अतः दो और दो का योग चार कहना सत्य और अन्यथा कहना असत्य है ।

सत्यासत्य की परिभाषा के बाद सत्य प्राप्ति के साधन का विवेचन आवश्यक है । राजनीति में आजकल प्रजातन्त्र पद्धति में सत्यासत्य का निर्णय बहुमत के आधार पर किया जाता है । 999 व्यक्तियों का एक विषय पर एकमत है, परन्तु 1000 व्यक्तियों का मत उसके विपरीत है । इस स्थिति में 999 व्यक्तियों के मत का कोई मूल्य नहीं भले ही विद्या में वे 1000 व्यक्तियों से अधिक योग्यता रखते हों । आर्यसमाज को यह पद्धति मान्य नहीं है । एक सहस्र मूर्खों के मुकाबले में एक विद्वान् की सम्मति अधिक मान्य है । प्रयोगशाला में एक वैज्ञानिक प्रयोग करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है । दूसरा वैज्ञानिक भी उसी निष्कर्ष पर पहुँचता है, किन्तु निष्कर्ष सर्वसाधारण की मान्यताओं से मेल नहीं खाते । क्या इस स्थिति में वैज्ञानिक इन लोगों के बहुमत के आधार पर अपने निष्कर्ष में परिवर्तन कर डालें ? यदि ऐसा होने लगे तो सारा वैज्ञानिक अनुसन्धान एक उपहास के अतिरिक्त और क्या रहेगा ?

सत्यासत्य का निश्चय करने के एक सरल व व्यावहारिक उपाय पर विचार करना यहाँ अभिप्रेत है। जैसाकि हम आरम्भ में लिख चुके हैं, मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहते हुए विचारों के आदान-प्रदान से वह अपने ज्ञान में अभिवृद्धि करता है। समाज से वह कुछ सीखता है और उसे सिखाता है। इसके लिए शंका-समाधान, वाद-विवाद तथा शास्त्रार्थ बड़े उपयोगी सिद्ध होते हैं। आर्यसमाज का प्रारम्भिक युग शास्त्रार्थ-युग था। इसी का परिणाम था कि सर्वसाधारण जनता वादी, प्रतिवादी के तर्क सुनकर अपने ज्ञान में वृद्धि करती थी और बिना अधिक परिश्रम किये ही सत्यासत्य का निर्णय कर लेती थी। इस पद्धति की उपयोगिता के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द जी का विचार है–

'जब तक वादी-प्रतिवादी होकर प्रीति से वाद वा लेख न किया जाए तब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता। जब विद्वान् लोगों में सत्यासत्य का निश्चय नहीं होता तभी अविद्वानों को महा अन्धकार में पढ़कर बहुत दुःख उठाना पड़ता है। इसलिए सत्य के जय और असत्य के क्षय के अर्थ मित्रता से वाद वा लेख करना हमारी मनुष्यजाति का मुख्य काम है। 'यदि वादी-प्रतिवादी सत्यासत्य निश्चय के लिए वाद-प्रतिवाद करें तो अवश्य निश्चय हो जाए।' महर्षि ने अपने लेखन व भाषण में इसी पद्धति का अनुसरण किया है। अतः वे अपने अनुभव के आधार पर लिखते हैं–'जैसे मैं अपना या दूसरे मत-मतान्तरों का दोष पक्षपातरहित होकर प्रकाशित करता हूँ, इसी प्रकार यदि सब विद्वान् लोग करें तो क्या कठिनता है कि परस्पर का विरोध छूट, मेल होकर आनन्द में एकमत होकर सत्य की प्राप्ति सिद्ध न हो।'

वाद-विवाद में तीन सावधानियाँ अवश्य बर्तनी चाहिएँ–1. पक्षपातरहित होना, 2. निर्भीकता के साथ दूसरे के दोषों का प्रकाशन, 3. वाद-विवाद का उद्देश्य दूसरे को मानसिक पीड़ा देकर उसे हानि पहुँचाना न हो। दूसरों के दोषों के प्रकाशन के सम्बन्ध में कुछ व्यक्तियों को आपत्ति हो सकती है कि दूसरों के दोष बखान करने से वे लोग अप्रसन्न होंगे और पारस्परिक कलह बढ़ेगा। इसके उत्तर में हमारा कथन है कि मनुष्य को जब तक अपने दोष का ज्ञान न होगा, वह उसे दूर कैसे कर सकेगा? दूसरे के चेहरे

पर लगी कालिमा को दूर करने के लिए उसकी ओर संकेत करने का साहस तो बटोरना ही पड़ेगा। हाँ, ऐसा करने से पूर्व अपना दोष-निवारण करना आवश्यक है। मद्यपान न करने वाले के द्वारा मद्यपान की बुरी लत को त्यागने के उपदेश का कहीं अधिक प्रभाव पड़ता है? इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द का यह कथन बड़ा ही उपयुक्त है—''अस्तु जो हो, परन्तु बहुत मनुष्य ऐसे हैं जिनको अपने दोष तो नहीं दीखते, किन्तु दूसरों के दोष देखने में अत्युत्सुक रहते हैं। यह न्याय की बात नहीं, क्योकि प्रथम अपने दोष देख, निकालने के पश्चात् दूसरे के दोषों में दृष्टि देके निकालें।'' इसमें तो दो मत नहीं हो सकते कि सदा प्रिय और हितकारक बोलना चाहिए, परन्तु यह भी ध्यान रहे—''जो-जो दूसरे का हितकारक हो और बुरा भी माने तथापि कहे बिना न रहे।'' दुखती आँखों में मैल को धुलवाना बच्चे को प्रिय भले ही न हो, किन्तु दयालु माँ तो अपने पुत्र के मुख को स्वच्छ करने के लिए इस अप्रिय काम को करती ही है। दूसरों के दोषों का प्रकाश करने से कतराने वाले या तो कायर होते हैं या चापलूस।

सत्यासत्य के अन्वेषक को दूसरों के हित के लिए उनकी अप्रसन्नता का खतरा मोल लेना ही पड़ता है। महर्षि दयानन्दजी का जीवन इस बात का साक्षी है वे लिखते हैं—''क्योंकि सत्पुरुषों को योग्य है कि मुख के सामने दूसरे का दोष कहना और अपना दोष सुनना, परोक्ष में दूसरे के गुण सदा कहना और दुष्टों की यही रीति है कि सम्मुख में गुण कहना और परोक्ष में दोषों का प्रकाश करना। जब तक मनुष्य दूसरे से अपने दोष नहीं सुनता तब तक मनुष्य दोषों से छूटकर गुणी नहीं हो सकता।''

वाद-विवाद में तीसरी सावधानी, जिसका पहिले उल्लेख हो चुका है, यह है कि एक-दूसरे को हानि न पहुँचाई जाए। दूसरों की आलोचना करते समय महर्षि दयानन्द इस ओर सदैव जागरूक रहे हैं। उनका कहना है—''क्योंकि मेरा तात्पर्य किसी की हानि वा विरोध करने में नहीं, किन्तु सत्यासत्य का निर्णय करने-कराने का है।'' महर्षि की अभिलाषा थी कि सभी व्यक्ति इस नियम का पालन करें। ''इसी प्रकार सब मनुष्यों को न्यायदृष्टि से वर्तना अति उचित है।.... यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या-द्वेष छोड़ सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का

त्याग करना-कराना चाहें तो हमारे लिए यह बात असाध्य नहीं है ।''

सत्यासत्य का निर्णय करने के जिस व्यावहारिक उपाय का हमने विवेचन किया है, उससे कई अवस्थाओं में सफलता प्राप्त नहीं हो पाती । वाद-विवाद में प्रायः यह देखा जाता है कि जिसको एक सत्य कहता है, दूसरा उसी को मिथ्या बतलाता है । इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के वाद-विवाद में उक्त सावधानियों का पूर्ण पालन नहीं किया जाता । महर्षि दयानन्द ने सत्यासत्य के निर्णय करने के 5 महत्वपूर्ण साधन निम्नलिखित हैं–

पहला–ईश्वर, उसके गुण-कर्म-स्वभाव और वेदविद्या । दूसरा–सृष्टिक्रम । तीसरा–प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण । चौथा–आप्तों का आचार, उपदेश, ग्रंथ और सिद्धान्त और पाँचवाँ–अपने आत्मा का साक्षी, अनुकूलता, जिज्ञासुता, पवित्रता और विज्ञान । इन्हीं पाँच साधनों को कुछ विस्तार से सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में कुछ क्रम-भेद से प्रस्तुत किया है–परीक्षा पाँच प्रकार से होती है–

एक–''जो-जो ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव और वेदों से अनुकूल हो वह-वह सत्य और उससे विपरीत असत्य है । दूसरा–जो-जो सृष्टिक्रम से अनुकूल वह-वह सत्य और जो-जो सृष्टिक्रम से विरुद्ध है, वह सब असत्य है । जैसे कोई कहे कि बिना माता-पिता के योग से लड़का उत्पन्न हुआ, ऐसा कथन सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से सर्वथा असत्य है । तीसरी–'आप्त', अर्थात् जो धार्मिक विद्वान् सत्यवादी निष्कपटियों का संग उपदेश के अनुकूल है, वह-वह ग्राह्य और जो-जो विरुद्ध वह अग्राह्य है । चौथी–अपने आत्मा की पवित्रता विद्या के अनुकूल, अर्थात जैसा अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही सर्वत्र समझ लेना कि मैं भी किसी को दुःख वा सुख दूँगा तो वह भी अप्रसन्न और प्रसन्न होगा और पाँचवीं – आठों प्रमाण, अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ।''

सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए वाद-विवाद करते समय इन पाँचों परीक्षाओं में से किस-किस का किस क्रम से उपयोग किया जाए, यह वादी की योग्यता तथा उसकी विचारधारा पर निर्भर करता है । यदि वह

आस्तिक है और वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानता है तो प्रथम परीक्षा का उपयोग लाभकारी रहेगा। यदि वह नास्तिक है तो सर्वप्रथम पाँचवीं परीक्षा का उपयोग करना चाहिए और उसके बाद दूसरी। चौथी परीक्षा सबके लिए समान रूप से उपयोगी रहेगी।

सत्यासत्य का निर्णय हो जाने पर भी प्रत्येक व्यक्ति उसका ग्रहण और त्याग कर सके, यह आवश्यक नहीं है। सत्य को जानते हुए उसमें प्रवृत्ति नहीं होती और असत्य को जानते हुए उससे निवृत्ति नहीं हो पाती। ऐसा करने के लिए दृढ़-संकल्प, स्वाध्याय और सत्संग आवश्यक हैं। इस नियम में 'सर्वदा' पद महत्वपूर्ण है। सत्य के ग्रहण और असत्य को छोड़ने पर बल देने के लिए यह पद नियम में रखा गया है। इसका आशय यह है कि आर्यसमाज के प्रत्येक सदस्य को प्रत्येक स्थिति में सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में तैयार रहना चाहिए।

इस नियम के आधार—वेद मंत्र

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि।। —यजु. 1.5

अर्थ—हे सत्यभाषण आदि धर्मों के पालन करने और सत्योपदेश करने वाले परमेश्वर मैं जो झूठ से अलग सत्यव्रत, अर्थात् सत्य बोलना, सत्य मानना और सत्य करना है, उसका अनुष्ठान अर्थात् नियम से ग्रहण करने वा जानने और उसकी प्राप्ति की इच्छा करता हूँ। मेरे उस सत्यव्रत को आप अच्छी प्रकार सिद्धि कीजिए, जिससे मैं उक्त सत्यव्रत के नियम-पालन करने में समर्थ होऊँ और मैं इसी प्रत्यक्ष सत्यव्रत के आचरण का नियम करूँगा।

सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता। —अथर्व. 12.5.2

अर्थ—सब मनुष्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्य की परीक्षा करके सत्य के आचरण से युक्त हों। हे मनुष्य लोगों! तुम शुभ गुणों से प्रकाशित होके, चक्रवर्ती राज्य आदि ऐश्वर्य को सिद्ध करके, अतिश्रेष्ठ लक्ष्मी से युक्त होके, शोभारूप श्री को सिद्ध करके, उसको चारों ओर पहिन के शोभित होओ। मनुष्यों को उत्तम गुणों का ग्रहण करके सत्य के आचरण और यश, अर्थात् उत्तम कीर्ति से युक्त होना चाहिए।

पाँचवाँ नियम

सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिएँ।

किसी कार्य को आरम्भ करने से पूर्व उसके लिए तैयारी करना आवश्यक होता है। चतुर्थ नियम में आर्यसमाज के प्रत्येक सदस्य को सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग करने के लिए सर्वदा उद्यत करके तदनुसार सब काम करने का आदेश इस पाँचवें नियम में दिया गया है।

इस नियम में सब काम धर्मानुसार करने का विधान है। धर्म शब्द सुनते ही बहुत से व्यक्ति बिदक (चौंक) जाते हैं। तथाकथित उच्च शिक्षित समुदाय में धर्म का उपहास करना एक फैशन बन गया है। केवल भारतवर्ष में ही नहीं वरन् संसार के अन्य देशों में भी गत अनेक वर्षों से धर्म के प्रति घृणा और विद्रोह चला आ रहा है।

फ्राँस के प्रसिद्ध विद्वान् बर्थोले ने अपने एक व्याख्यान में कहा था—

The day of Religion has passed and religion must now be replaced by science.

धर्म के दिन चले गये। अब धर्म का स्थान विज्ञान लेगा।

रूस के प्रसिद्ध विद्वान् टॉलस्टाय ने कहा था—

Religion is obsolete : belief in any thing but science is ignorance. Science will arrange all that is needful and one must be guided in life by science alone.

धर्म का युग चल गया। विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी बात पर विश्वास करना भूल है। जिस किसी वस्तु की हमें आवश्यकता है, वह सब विज्ञान से प्राप्त हो जाती है। जीवन का दर्शन विज्ञान ही होना चाहिए।

धर्म का विरोध करने में दो कदम आगे बढ़ाते हुए कुछ लोगों ने तो यह कहना शुरू कर दिया है—"आज जबकि विज्ञान ने अपने अद्भुत, अपूर्व आविष्कारों और अन्वेषणों से दुनियाँ की काया पलट दी है, हमें इस बात का अन्तिम फैसला कर लेना है कि धर्म और ईश्वर की कल्पना झूठी, हानिकारक और अवैज्ञानिक तो है ही, वह व्यक्ति और समाज के लिए अनावश्यक भी है और इसलिए धर्म और ईश्वर को हमें सदा के लिए दफना देना है ताकि

मानवसमाज भय और आतंक से मुक्त होकर सही माने में और अधिक समृद्ध व सुखी बन सके। धर्म की कल्पना चाहे वह किसी भी खुराफाती दिमाग की उपज क्यों न हो एक ऐसी कल्पना है, जिसके बल पर थोड़े से धूर्त और चालाक लोग आज तक अपनी उदरपूर्ति करते आ रहे हैं।''

धर्म से समाज को क्या मिलता है, इस सम्बन्ध में आगे चलकर वही लेखक लिखता है—''धर्म से समाज को घृणा, वैमनस्य, द्वेष और कटुता के सिवा क्या प्राप्त हुआ है? धर्म ने समाज को झूठी कल्पनाओं, गलत परम्पराओं, रूढ़िपूर्ण मान्यताओं और अवैज्ञानिक विचारों के सिवा दिया ही क्या है?.... धर्म ने व्यक्ति और समाज को पंगु बना दिया है, उसे निकम्मा और अकर्मण्य कर दिया है और जनमानस में नपुंसकता के विष बीज बो दिये हैं।''

जीवन में धर्म की उपादेयता के सम्बन्ध में लेखक का स्पष्ट मत है—''धर्म और ईश्वर की कोई उपादेयता नहीं है। उल्टे ये जीवन को अधिक कुण्ठाग्रस्त, कठोर, विचित्र और विपन्न बनाते हैं। धर्म जीवन की सरसता को समाप्त करता है, व्यक्ति की स्वतन्त्रता को हरता है। धर्म व्यक्ति को परान्नभोजी, निष्क्रिय, निकम्मा, ढोंगी, पाखण्डी और बेईमान बनाता है।''

धर्म के प्रति घृणा और इस प्रकार के विष वमन के दो मूलकारण हैं। एक तो गत कई शताब्दियों में धर्म के ठेकेदारों (धर्मध्वजियों) का स्वयं का आचरण और दूसरे इन धर्म-विद्रोहियों की अज्ञानता। विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि हमारी पृथ्वी नारंगी की भाँति गोल है और सूर्य के चारों ओर घूमती है, परन्तु बाइबिल के आधार पर ईसाइयों का विश्वास रहा है कि पृथ्वी चपटी है। पृथ्वी का गोल कहने वालों को इन ईसाइयों ने यातनाएँ दीं और उन्हें नास्तिक घोषित कर दिया। ईसाइयों के इस प्रकार के आचरण से वैज्ञानिकों के हृदय में धर्म के प्रति घृणा उत्पन्न होना स्वाभाविक था। पौराणिक मत में भी इसी प्रकार के कई मूर्खतापूर्ण विश्वास चले आ रहे हैं। कोई कहता है कि पृथ्वी शेष, अर्थात् सहस्र फणवाले सर्प के सिर पर टिकी है। दूसरा कहता है कि यह बैल के सींग पर ठहरी है।

एक वैज्ञानिक इन गपोड़ों को कैसे सही मान सकता है? परन्तु उससे एक भूल अवश्य हुई है। उसने धर्म के वास्तविक रूप को जानने के लिए परिश्रम न कर इन गपोड़ों को ही असली धर्म समझ लिया है। वस्तुतः धर्म और विज्ञान में विरोध है ही नहीं। ''विज्ञान उसको कहते हैं कि जो कर्म-उपासना और ज्ञान इन तीनों से यथावत् उपयोग लेता और परमेश्वर से लेके तृणपर्यन्त पदार्थों का साक्षात् बोध का होना, उनसे यथावत् उपयोग का करना।'' विज्ञान मनुष्य को धर्म और ईश्वर से विमुख नहीं करता वरन् उनकी ओर ले जाता है। महर्षि दयानन्द की दृष्टि में–

''योगाभ्यास और विज्ञान के बिना परमात्मा भी नहीं दीख पड़ता।''

विज्ञान के साथ धर्म का भी अर्थ जान लेना चाहिए। इस शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता आया है। यह संस्कृत का एक ऐसा शब्द है कि इसका अनुवाद संसार की किसी भी भाषा के एक शब्द में नहीं किया जा सकता। अंग्रेजी भाषा में इसका पर्याय समझा जाता है, जिसका अर्थ एक ऐसे विश्वास से है जैसाकि मनुष्य का ईश्वर से, जिस पर वह आश्रित अनुभव करता है, सम्बन्ध जोड़ता है। परन्तु धर्म शब्द का इससे अधिक व्यापक अर्थ है। यह शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका तात्पर्य है 'धारण करना', 'आलम्बन देना', 'पालन करना' किसी वस्तु के जो ऐसे गुण हैं जिनमें वह अपने रूप में धारित रहती है, उन गुणों को उस वस्तु का धर्म कहा जाता है। धर्म का अर्थ 'निश्चित नियम' व्यवस्था या सिद्धान्त या 'आचरण नियम' भी है। राजधर्म, प्रजाधर्म, वर्णाश्रम धर्म में 'धर्म' शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया गया है।

महर्षि दयानन्द को नैतिक मूल्यों में सत्य, निष्पक्षता और न्याय अत्यन्त प्रिय थे। इन्हें वे धर्म का पर्याय समझते थे। इसलिए उन्होंने धर्म की परिभाषा यह की है–'क्योंकि जो न्याय, अर्थात् पक्षपात को छोड़के सत्य का आचरण और असत्य का परित्याग करना है, उसी को धर्म कहते हैं। यही धर्म का स्वरूप और सबसे उत्तम धर्म है।'' जो पक्षपातरहित, न्यायाचरण, सत्यभाषणादि युक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है, उसको 'धर्म' और जो

पक्षपातसहित अन्यायाचरण, मिथ्याभाषणादि ईश्वराज्ञा भंग वेदविरुद्ध है उसको 'अधर्म' मानता हूँ। धर्म की इस परिभाषा को स्वीकार कर तदनुसार आचरण करने पर धर्म के प्रति अनास्था, अविश्वास व घृणा स्वतः समाप्त हो जाएगी। स्वार्थवश मनुष्य जब अनेक धर्मों की रचना कर उसके अनुसार आचरण करने लगते हैं, तो पारस्परिक संघर्ष व असन्तोष अनिवार्य हो जाता है। महर्षि दयानन्द की स्पष्ट घोषण है कि धर्म एक ही होता है अनेक नहीं। वे लिखते हैं–'सब मनुष्यों के लिए धर्म और अधर्म एक ही है, दो नहीं। जो कोई इसमें भेद करे तो उसको अज्ञानी और मिथ्यावादी ही समझना चाहिए।'' इसी बात को महर्षि ने एक दूसरे ढंग से स्पष्ट किया हैं वे लिखते हैं, ''धर्म सबका एक होता है वा अनेक? जो कहे अनेक होता है, तो एक-दूसरे से विरुद्ध होते हैं वा अविरुद्ध? जो कहो कि विरुद्ध होते हैं तो एक के बिना दूसरा धर्म नहीं हो सकता और जो कही अविरुद्ध हैं, तो पृथक्-पृथक् होना व्यर्थ है। इसलिए धर्म और अधर्म एक ही हैं, अनेक नहीं।

यहाँ यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि यदि सब मनुष्यों का धर्म एक ही है तो शास्त्रों में वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र) तथा आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास) के पृथक्-पृथक् धर्मों का विवेचन किया गया है, ऐसा क्यों? इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि धर्म की यह भिन्नता व अनेकरूपता वस्तुतः वर्ण व आश्रम रूप में ही है। मानवरूप में सबका धर्म एक ही है और वह है सत्याचरण। यहाँ एक बात और विचारणीय है। महर्षि दयानन्द ने धर्म की परिभाषा में कई शब्दों का प्रयोग किया है, परन्तु सबसे अधिक बल सत्य पर ही दिया है। इसका स्पष्टीकरण महर्षि ने इस प्रकार किया है–

प्रश्न–धर्म और अधर्म किसको कहते हैं?

उत्तर–जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, पाँचों परीक्षाओं के अनुकूल आचरण, ईश्वराज्ञा पालन, परोपकार करना रूप धर्म और जो इसके विपरीत, वह अधर्म कहाता है, क्योंकि जो सबके अविरुद्ध वह धर्म और जो परस्पर विरुद्धाचरण सो अधर्म क्योंकर न कहावेगा?

देखो ! किसी ने किसी से पूछा कि सत्य क्या है ? उसको उसने उत्तर दिया जो मैं मानता हूँ । फिर उसने पूछा और जो वह मानता है, वा जो मैं मानता हूँ, वह क्या है ? उसने कहा कि अधर्म है । यही पक्षपात से मिथ्या और विरुद्धाचरण अधर्म और जब तीसरे ने दोनों से पूछा कि सत्य बोलना धर्म है अथवा असत्य ? तब दोनों ने उत्तर दिया कि सत्य बोलना धर्म और असत्य बोलना अधर्म है । इसी का नाम धर्म जानो ।

धर्म के इस रूप को महर्षि दयानन्द ने प्रस्तुत नियम में पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है । उनके मतानुसार धर्म का अर्थ है सत्य और असत्य को विचार करके करना, अर्थात् सत्याचरण धर्म है और इसके विपरीत अधर्म है ।

सत्य और असत्य को विचार करके काम करने को ही सोच-समझकर, विचारपूर्वक तथा बुद्धिपूर्वक काम करना कहते हैं । अरस्तु ने मनुष्य को विचारशील प्राणी कहा है (Man is a rational animal). यदि वह बुद्धि का उपयोग नहीं करता तो वह निरा पशु-समान है । आश्चर्य है कि अनेक मत-मतान्तरवालों ने इस मौलिक बात की उपेक्षा करके धर्म में अकल (बुद्धि) का दखल (प्रवेश) वर्जित कर दिया । इसके फलस्वरूप अनेक अन्धविश्वासों ने जन्म लेकर धर्म के रूप को विकृत कर दिया । अपने इस विचार की पुष्टि में हम बाइबिल से दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, तब परमेश्वर ने उसे कहा कि तेरे हाथों में यह क्या है और वह बोला कि छड़ी । तब उसने कहा कि उसे भूमि पर डाल दे और उसने उसे भूमि पर डाल दिया और वह सर्प बन गई और मूसा उसके आगे से भागा । तब परमेश्वर ने मूसा से कहा कि अपना हाथ बढ़ा और उसकी पूँछ पकड़ ले, तब उसने अपना हाथ बढ़ाया और उसे पकड़ लिया और यह उसके हाथ में छड़ी हो गई । तब परमेश्वर ने उसे कहा कि फिर तू अपना हाथ अपनी गोद में कर और उसने अपना हाथ अपनी गोद में किया । जब उसने उसे निकाला तो देखा तो उसका हाथ हिम के समान कोढ़ी था और उसने कहा कि अपना हाथ फिर अपनी गोद में कर, उसने फिर अपने हाथ को अपनी गोद में किया और अपनी गोद से उसे

निकाला तो देखा कि जैसी उसकी सारी देह थी वह वैसा फिर हो गया। तू नील नदी का जल लेके सूखी पर डालियो और वह जल जो तू नदी से निकालेगा, सो सूखी पर लोहू हो जायेगा। –(तौ.) या. पा. 4, अ. 2, 3, 4, 6, 7, 9

क्या कोई बुद्धिमान् व्यक्ति ऐसी बातों में विश्वास कर सकता है? महर्षि दयानन्द ने इसकी समीक्षा करते हुए लिखा है–'अब देखिए। कैसे बाजीगर का खेल, खिलाड़ी ईश्वर, उसका सेवक मूसा और इन बातों के मानने हारे कैसे हैं? क्या आजकल बाजीगर लोग इनसे कम करामात करते हैं? यह ईश्वर क्या, यह तो बड़ा खिलाड़ी है। इन बातों को विद्वान् क्यों कर मानेंगे?

एक दूसरे स्थान पर तो ऐसा गपोड़ा हाँका है कि उसके सामने सारा गणितशास्त्र फेल हो गया है। वहाँ कहा है– ''तब यीशु ने उनसे कहा तुम्हारे पास कितनी रोटियाँ हैं, उन्होंने कहा पाँच रोटियाँ और दो मछलियाँ तब उसने लोगों को भूमि पर बैठने की आज्ञा दी और उसने उन पाँच रोटियों को और दो मछलियों को लेके धन्य मानके तोड़ा और अपने शिष्यों व लोगों को दिया। सो सब खाके तृप्त हुए और जो टुकड़े बच रहे उन्होंने उनके बारह टोकरे भरे उठाये। जिन्होंने खाया सो स्त्रियों और बालकों को छोड़ पाँच सहस्र पुरुष थे।''

इसकी समीक्षा में महर्षि दयानन्द लिखते हैं–''अब देखिए! क्या यह आजकल के झूठे सिद्धों और इन्द्रजाली आदि के समान छल की बात नहीं है? उन रोटियों में अन्य रोटियाँ कहाँ से आ गईं। यदि ईसा में ऐसी सिद्धियाँ होतीं तो आप भूखा हुआ गूलर के फल खाने को क्यों भटका करता था? अपने लिए मिट्टी, पानी और पत्थर आदि से मोहनभोग, रोटियाँ क्यों न बना लीं? ये सब बातें लड़कों के खेलपन की हैं। जैसे कितने ही साधु-वैरागी ऐसी छल की बातें करके भोले मनुष्यों को ठगते हैं, वैसे ही ये भी हैं।''

अतः अन्धविश्वास के दोष से बचने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को सत्य

और असत्य को विचार करके काम करना चाहिए। इस विषय में कुछ व्यक्ति यह आपत्ति करते हैं कि व्यावहारिक जीवन में निरी सच्चाई से काम नहीं चल सकता। कई अवसर जीवन में ऐसे आते हैं जबकि मनुष्य असत्य आचरण करने के लिए बाध्य हो जाता है और असत्याचरण से ही उसका हित प्राप्त होता है। शान्तिपर्व में सनत्कुमार के आधार पर नारद जी शुक्रजी से कहते हैं—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद् भूतहितमत्यन्तं एजत्सत्यं मतं मम।।

''सच बोलना अच्छा है, परन्तु सत्य से ही सब प्राणियों का हित हो सकता है, असत्य से कभी भी किसी का हित नहीं हो सकता।''

बाइबल में पॉल का कथन है—

यदि मेरे असत्यभाषण से प्रभु के सत्य की महिमा और बढ़ती है तो इससे मैं पापी क्योंकर हो सकता हूँ।

कुछ लोगों का विचार है कि रोगी, विक्षिप्त, शत्रु, चोर और अन्याय से प्रश्न करने वाले के सम्मुख सत्य नहीं बोलना चाहिए।

महर्षि दयानन्द उपर्युक्त विचारधारा से सहमत नहीं है। उनके विचार में मनुष्य को प्रत्येक अवस्था में सत्य के अनुसार आचरण करना चाहिए। प्रश्नोत्तर रूप में उन्होंने अपने विचार को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

प्रश्न—क्यों जी! सर्वथा सत्य से तो कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता। देखो व्यापार में सत्य बात कह दे, तो किसी पदार्थ का विक्रय न हो। हार-जीत के व्यवहारों में मिथ्या साक्षी खड़े न करें तो हार हो जाए इत्यादि हेतुओं से सब ठिकानों में सत्यभाषादि कैसे कर सकते हैं?

उत्तर—यह बात महामूर्खता की है। वैसे जो मनुष्य महामूर्ख है, वे ऐसा समझते हैं कि सत्य से व्यवहार का नाश और झूठ से ही व्यवहार की सिद्धि होती है, परन्तु जब किसी को कोई एक व्यवहार में झूठ समझ ले, तो उसकी प्रतिष्ठा और विश्वास सब नष्ट होकर उसके सब व्यवहार नष्ट हो जाते हैं और जो सब व्यवहारों में झूठ को छोड़कर सत्य ही कहते हैं, उनको

लाभ-ही-लाभ होते है हानि कभी नहीं, क्योंकि सत्य व्यवहार करने का नाम धर्म और विपरीत का अधर्म है। मनुष्य में मनुष्यपन यही है कि सर्वदा झूठ व्यवहारों को छोड़कर सत्य व्यवहारों को सदा ग्रहण करें और असत्य व्यवहारों को तुरन्त प्रभाव से त्याग दें।

सत्याचरण के बिना जगद् व्यापार चलना असम्भव है। किसी राष्ट्र की प्रथम इकाई परिवार के सदस्य परस्पर व्यवहार में सत्य का पालन न करें तो क्या ऐसा परिवार चल सकता है? असत्य आचरण से एक-दूसरे के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो जाता है। अविश्वास से पारस्परिक प्रेम का क्षय हो जाना निश्चित है। प्रेम अभाव से द्वेष और विरोध उत्पन्न होते हैं और इनसे घात-प्रतिघात पैदा होते हैं। अन्त में जाकर सर्वनाश हो जाता है और सत्याचरण से मनुष्य का कल्याण होता है। महर्षि दयानन्द जी लिखते हैं–''ऐसे सत्याचारियों को सदा लाभ-ही-लाभ होता है और झूठों की दुर्दशा होकर दिवाले ही निकल जाते हैं। इसलिए सब मनुष्यों को अत्यन्त उचित है कि सर्वथा असत्य छोड़कर सत्य का ही आचरण करें, जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होकर, सदा आनन्द में रहें।'' विद्वानों का यही काम है कि सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग करके परम आनन्दित होवें। वे ही गुणग्राहक पुरुष विद्वान् होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप फलों को प्राप्त होकर प्रसन्न रहते हैं।

इस नियम के आधार–वेद मंत्र

स्वधया परिहिता श्रद्धा पर्य्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम्। –अथर्व. 12.5.3

अर्थ–मनुष्य अपने ही पदार्थों का धारण करें। सब मनुष्य सत्य व्यवहार पर अत्यन्त विश्वास को प्राप्त हों, क्योंकि जो सत्य है, वही विश्वास का मूल तथा सत्य का आचरण ही उसका फल और स्वरूप है, असत्य कभी नहीं।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳ सत्ये प्रजापतिः।। –यजु. 19.77

अर्थ–इस मंत्र का अभिप्राय यह है कि प्रजापति परमेश्वर जो सब

जगत् का स्वामी है, वह सब मनुष्यों के लिए उपदेश करता है कि सब मनुष्यों को सब प्रकार से सब काल में सत्य में ही प्रीति करनी चाहिए, असत्य में कभी नहीं ।

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे ।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा । —यजु. 3-5

भावार्थ—सब मनुष्यों को देना-लेना, पदार्थों को रखना-रखवाना वा धारण करना आदि व्यवहार सत्य-प्रतिज्ञा से ही करने चाहिएँ ।

छठा नियम

संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना ।

किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही व्यक्ति अपने कर्म किया करता है । यदि गहराई से देखा जाए तो ये कर्म प्रायः स्वार्थपरक होते हैं । इन कर्मों से मनुष्य अपना और अपने परिवार का हित करता है । आरम्भ में अर्थात् बाल्यावस्था में मनुष्य स्वार्थी होता है । अपना हित करना ही उसका उद्देश्य होता है । इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि जब तक मनुष्य अपना हित न कर ले, वह दूसरे के बारे में सोच भी नहीं सकता । भूखे भजन न होय गोपाला । एक रोगी, भूखा और अशिक्षित व्यक्ति दूसरे का क्या हित कर पाएगा? परन्तु यह भी तो सत्य हे कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । बिना समाज के उसके जीवित रहने की कल्पना भी नहीं की जा सकती । परिवार समाज का ही एक अंग है ।

ज्यों-ज्यों बच्चा विकसित होता जाता है उसका सम्बन्ध परिवार तक ही सीमित न रहकर, समाज, प्रान्त, राष्ट्र और विदेश से जुड़ जाता है । इन सबसे हमारी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती हैं कितनी ही प्राण-रक्षक औषधियों के लिए हमें विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता हैं इस प्रकार शनैः-शनैः मनुष्य अनुभव करता है कि उस पर अन्यों का भारी ऋण है, जिससे ऋण मुक्त होने के लिए उसे परहित करना चाहिए । परहित करने का नाम ही परोपकार । यह मनुष्य का एक बहुत बड़ा सद्गुण है—सज्जनता और सज्जन

पुरुष सदा परोपकार में प्रवृत्त होते हैं। इसी में उनकी शोभा है, इसीलिए प्रस्तुत नियम में कहा है—"संसार का उपकार करना इस समाज (आर्यसमाज) का मुख्य उद्देश्य है।"

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि वह उपकार केवल अपना या अपने परिवार, रिश्तेदारों, मित्रों या किसी विशेष व्यक्ति, वर्ग, ग्राम, नगर, प्रान्त और देश का ही नहीं, अपितु समस्त विश्व का करना है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आर्यसमाज एक वर्ग या सम्प्रदायविशेष तक सीमित, संकुचित संगठन नहीं है। यह एक सार्वभौम संगठन हैं। आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने अमर-ग्रंथ सत्यार्थप्रकाश के अन्तर्गत स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में लिखा है—"मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ कि जो तीन काल में सबको एक-सा मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो सत्य है, उसको मानना-मनवाना और जो असत्य है, उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त्त में प्रचलित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता।"

परोपकारी-जन का महर्षि दयानन्द की दृष्टि में बहुत ऊँचा स्थान है। "गोकरुणानिधिः" की भूमिका में वे लिखते हैं—"पूजनीय जन वे हैं कि जो अपनी हानि होती हो, तो भी सबके हित के करने में अपना तन, मन, धन लगाते हैं और तिरस्करीय वे हैं, जो अपने ही लाभ में सन्तुष्ट रहकर सबके सुखों का नाश करते हैं।" यही आशय इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—"क्या ऐसा कोई भी विद्वान् भूगोल में था है और होगा जो परोपकाररूप धर्म और परहानिस्वरूप अधर्म के सिवाय धर्म वा अधर्म की सिद्धि कर सके। धन्य वे महाशय जन हैं, जो अपने तन, मन और धन से संसार का अधिक उपकार सिद्ध करते हैं।"

हमें परोपकार किस प्रकार करना चाहिए और उसका क्रम क्या हो? इस प्रक्रिया और क्रम को बताते हुए ही इस नियम में आगे कहा है—अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना। इन तीनों में से प्रथम शारीरिक उन्नति करना है। संसार की शारीरिक उन्नति के दो भेद हैं—एक तो

अपनी शारीरिक उन्नति और दूसरी अपने से इतर संसार के सभी जनों की उन्नति। इसका कारण यह है कि शरीर के स्वस्थ होने पर ही सारे कार्य या प्रगतियाँ चलती हैं। इस सम्बन्ध में चरक का कथन विशेष विचारणीय है–

सर्वमन्यत् परित्यज्य शरीरमनुपालयेत्।

तदभावे हि भवानां सर्वाभावः शरीरिणाम्।। –चरक, निदान 6.7

अन्य सब-कुछ को छोड़कर सबसे पहले शरीर की देखभाल करे, क्योंकि अस्वस्थ होने पर अन्य सब स्वतः बेकार हो जाता है।

एतदर्थ शरीर-विज्ञान के अनुसार उचित दिनचर्या, पौष्टिक-स्वच्छता सादा और नियमित भोजन, व्यवस्थित व्यायाम, वीर्य का संरक्षण और उपयुक्त निद्रा को व्यवहार में लाना चाहिए। दूसरों की शारीरिक उन्नति के लिए अपने बन्धुओं में, बाल-बच्चों में सात्त्विक आहार की रीति प्रचलित करे। व्यायाम का स्वभाव डाले। बालकों को खेलकूद में, दौड़ने-भागने, उछलने-फाँदने में तथा अन्य अनेक साहस के कार्यों में प्रोत्साहन दे। शारीरिक हित के लिए उपर्युक्त सभी आवश्यक हैं। इनमें भोजन का प्रमुख स्थान है। मांस का सेवन कदापि नहीं करना चाहिए। महर्षि दयानन्द मांस-भक्षण के प्रबल विरोधी थे। अपने उपदेशों में मांस-भक्षण का वे अत्यन्त जोरदार खण्डन करते थे। उनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थप्रकाश' में से मांस-भक्षण निषेधक कुछ सन्दर्भ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं–

"जिस प्रकार आरोग्य, विद्या और बल प्राप्त हो, उसी प्रकार भोजन-छादन और व्यवहार करें-करावें, अर्थात् जितनी क्षुधा हो, उससे कुछ न्यून भोजन करें। मद्य-मांसादि के सेवन से अलग रहें।" –समुल्लास 2

"ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी मद्य, मांस, गंध, माला, रस, स्त्री और पुरुष का संग सब खटाई, प्राणियों की हिंसा आदि कर्मों को छोड़ दें।"

–समुल्लास 3

"जो लोग मांस-भक्षण और मद्यपान करते हैं, उनके शरीर और वीर्यादि धातु भी दुर्गन्धादि से दूषित होते हैं।" –समुल्लास10

''और मद्य-मांसाहारी म्लेच्छ कि जिनका शरीर मद्य-मांस के परमाणुओं ही से पूरित है, उनके हाथ का न खावें।'' **–समुल्लास 10**

''और जो मांस खाना है, यह भी उन्हीं वाममार्गी टीकाकारों की लीला है, इसलिए उनको राक्षस कहना उचित है, परन्तु वेदों में कहीं मांस का खाना नहीं लिखा।'' **–समुल्लास 12**

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में मांसाहारी व्यक्ति नीचतम होता है। वे लिखते हैं–''शुभ गुण-युक्त सुखकारक पशुओं के गले छुरों से काटकर जो अपना पेट भर सब संसार की हानि करते हैं, क्या संसार में उनसे भी अधिक कोई विश्वासघाती, अनुपकारी, दुःख देने वाले और पापीजन होंगे?''

–गोकरुणानिधि

''हे मांसाहारियो! तुम लोग जब कुछ काल के पश्चात् पशु न मिलेंगे, तब मनुष्यों का मांस भी छोड़ोगे वा नहीं? हे परमेश्वर! तू क्यों इन पशुओं पर, जोकि बिना अपराध मारे जाते हैं, दया नहीं करता? क्या उन पर तेरी प्रीति नहीं है? क्या इनके लिए तेरी न्यायसभा बन्द हो गई है? क्यों उनकी पीड़ा छुड़ाने पर ध्यान नहीं देता और उनकी पुकार नहीं सुनता? क्यों इन मांसाहारियों के आत्माओं में दया प्रकट कर निष्ठुरता, कठोरता, स्वार्थपन और मूर्खता आदि दोषों को दूर नहीं करता? जिससे ये इन बुरे कामों से बचें।''

–गोकरुणानिधि

शारीरिक के पश्चात् आत्मिक उन्नति का क्रम आता है। मनुष्य के पूर्ण विकास के लिए केवल शारीरिक विकास पर्याप्त नहीं है। इतने अंश में तो मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं है। पाशविक बल में मनुष्य शेर, हाथी और बैल आदि पशुओं का सामना नहीं कर सकता। इसीलिए मनुष्य को शारीरिक बल के साथ-साथ मानसिक और आध्यात्मिक बल भी उपार्जित करना चाहिए। एतदर्थ शिक्षा के द्वारा विद्या की प्राप्ति कर आत्म-अनात्म का बोध कर अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान प्राप्त करे। प्रातः सायं नियमित रूप से ईश्वरोपासना करे। वेद और ऋषिकृत ग्रंथों का स्वाध्याय करे। विवेक,

वैराग्य, षट्क सम्पत्ति (शम, दम, उपरति, तितिज्ञा, श्रद्धा, समाधान) मुमुक्षत्व, ये चार-साधन और चार अनुबन्धों का पालन करे। इसके साथ ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार को अपने आचरण में लाये। आत्मिक उन्नति के अनेक उपाय हैं। उनमें से कुछ का संकेत यहाँ किया गया है। यह विषय बहुत विस्तृत और गम्भीर है। विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए महर्षि दयानन्द रचित सत्यार्थप्रकाश और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का अध्ययन किया जाए।

इसके पश्चात् सामाजिक उन्नति पर विचार करना है। समाज के अन्तर्गत अपना परिवार अथवा आर्यसमाजस्थ लोगों का समाज ही अभिप्रेत नहीं है, वरन् संसारभर के समाजों से अभिप्राय है। संसार में अनेक देश है, उनमें अनेक समाजें हैं। विभिन्न समाजों की सभ्यता और संस्कृति में विभिन्नता है। सबका खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल समान नहीं है। हमें सभी का अध्ययन करके उनमें व्याप्त दोषों तथा अंधविश्वास और कुरीतियों को दूर करना चाहिए। महर्षि दयानन्द के अनुसार संसारभर में वेद-विरुद्ध चार मत हैं—पुराणी, जैनी, किरानी और कुरानी और चारों की एक सहस्र से अधिक शाखाएं हैं। इन मतों में व्याप्त दोषों को दूर करने के लिए महर्षि दयानन्द ने खण्डन-मण्डन-पद्धति का प्रयोग किया है। इससे सत्यासत्य का बोध हो जाता है और बिना सत्यासत्य की जानकारी प्राप्त किये समाज-सुधार असम्भव है। सन्त तुलसीदास कहते हैं—

खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा।
तेहिं तें कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।।

—रामचरितमानस (बालकाण्ड)

दुष्टों के पापों और अवगुणों की और साधुओं के गुणों की कथाएं—दोनों ही अपार और अथाह सागर हैं। इसी से कुछ गुण और दोषों का वर्णन किया गया है, क्योंकि बिना पहचाने उनका ग्रहण या त्याग नहीं हो सकता।

समाज-सुधार के लिए आर्यसमाज के प्रत्येक सदस्य को अपने समय

का कुछ भाग सार्वजनिक कामों में लगाना चाहिए। हमारे समाज में जात-पात, छुआछूत, बाल-विवाह, मादक-द्रव्यों का सेवन आदि अनेक कुरीतियाँ व्याप्त हैं। उन्हें दूर करने के लिए जगह-जगह सभाओं का आयोजन किया जाए और वहाँ भजन-व्याख्यान के साथ-साथ समाज-सुधार सम्बन्धी साहित्य भी वितरित किया जाए। अपने प्रचार में कटुता न आने दें। बड़े प्रेम-प्यार के साथ अपनी बात प्रस्तुत की जाए। खण्डन करने का अर्थ दूसरे का दिल दुखाना नहीं है। महर्षि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश के चतुर्दश समुल्लास में मुस्लिम मत का खण्डन करते हुए लिखते हैं–

''परमात्मा सब मनुष्यों पर कृपा करे कि सब-के-सब प्रीति, परस्पर मेल और एक-दूसरे के सुख की उन्नति करने में प्रवृत्त हों। जैसे मैं अपना वा दूसरे मतमतान्तरों का दोष पक्षपातरहित होकर प्रकाशित करता हूँ, इसी प्रकार यदि सब विद्वान् लोग करें, तो क्या कठिनता है कि परस्पर का विरोध छूट, मेल होकर आनन्द में एकमत होके सत्य की प्राप्ति सिद्ध हो।''

इस नियम में आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य–'संसार का उपकार करना बतलाकर उसकी प्राप्ति का उपाय शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना कहा गया है। विचारणीय यह है कि सामाजिक उन्नति को तीसरा स्थान क्यों दिया गया है? उत्तर स्पष्ट है कि जब तक कोई व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ न हो और उसमें आत्मबल का अभाव हो तो वह समाज की उन्नति कर ही नहीं सकता। सामाजिक सेवा के लिए व्यक्ति को स्थान-स्थान पर घूमना पड़ता है, पैदल, बस और ट्रेन आदि से यात्राएँ करनी पड़ती है। दुर्बल-रोगी व्यक्ति यह कार्य कर ही नहीं सकेगा और यह भी नितान्त सत्य है कि आत्मबलहीन व्यक्ति का जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। महर्षि दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा हंसराज और पं० लेखराम आदि उपदेशकों के भाषणों का श्रोताओं पर जादू का-सा प्रभाव इसीलिए पड़ता था कि उनमें आत्मिक बल था।

सातवाँ नियम

सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य वर्तना चाहिए ।

समस्त संसार को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—मैं और तू । मैं एक चेतन प्राणी हूँ और तू के अन्तर्गत जड़ और चेतन दोनों आते हैं । जड़ के अन्तर्गत सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, पृथ्वी, नदी, नाले, समुद्र, झील, तालाब, पर्वत, अग्नि, वायु, आकाश आदि सभी आते हैं और चेतन के अन्तर्गत पशु, पक्षी एवं मनुष्य आते हैं । किसी-न-किसी रूप में मेरा इन सभी से सम्बन्ध रहता है । सातवें नियम में 'सबसे' के अन्तर्गत चेतन जगत् आता है । इन सबसे एक आर्यसमाजी को कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसका निर्देश इस नियम में किया गया हैं हमारे व्यवहार के तीन प्रकार कहे गये हैं— 1. प्रीतिपूर्वक, 2. धर्मानुसार और 3. यथायोग्य ।

सामाजिक जीवन की सफलता, सुदृढ़ता और विकास प्रीतिपूर्वक व्यवहार पर निर्भर करता है । प्रीति या प्रेम एक संवेग है जो एक को दूसरे से जोड़ता है या बाँधता है । यह सीमेंट का काम करता है, जो एक ईंट को दूसरी ईंट से जोड़कर एक मजबूत दीवार का निर्माण करता हैं बिना सीमेंट के ईंटों को एक-दूसरे के ऊपर रखते जाइए इससे एक सुदृढ़ दीवार न बन सकेगी । एक हल्के धक्के में सब ईंटे नीचे गिर जाएँगी । इसी प्रकार हजारों व्यक्तियों को एक स्थान पर इकट्ठा कर दीजिए । बिना प्रेम के उनमें से न परिवार बन सकेगा, न कोई अन्य सामाजिक संगठन, इसलिए हमें सबके साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करना चाहिए । हमारा यह व्यवहार मनुष्य जाति तक ही सीमित न रहे । हमें पशुओं और पक्षियों से भी प्रेम करना चाहिए । यह तो मानना पड़ेगा कि मनुष्य के विकास में पशु-पक्षियों का महत्वपूर्ण योगदान रहता है । दूध और अन्न का उपार्जन बिना पशुओं के सम्भव नहीं है । यह भी सत्य है कि जहाँ प्रेम होता है, वहाँ ईर्ष्या-द्वेष और हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं रहता । अतः यह नियम हमें, यह भी आदेश देता है कि नरवध और पशुवध से भी हमें बचना चाहिए ।

इस प्रकार सातवें नियम के 'सबसे प्रीतिपूर्वक' शब्दों से स्पष्ट होता है कि संसार भर के जितने भी मनुष्य हैं, उनसे बिना जाति, मत, मजहब,

भाषा, देश, वर्ण, ऊँचे-नीचे, अपने-पराये के भेदभाव के प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। इसका फल यह होगा कि समाज में से शत्रुता और घृणा स्वतः मिट जाएँगे, जैसे एक हिन्दी कवि के शब्दों में–

करूँ मैं दुश्मनी किससे, अगर दुश्मन भी हो अपना।
मुहब्बत ने नहीं छोड़ी जगह दिल में अदावत की।।

इसके पश्चात् इस नियम में 'धर्मानुसार' व्यवहार करने का विधान है। महर्षि दयानन्द ने इस पद का अर्थ सत्य और असत्य का विचार किया है। अपने बच्चे के प्रति प्रेम करना स्वाभाविक है। कभी-कभी ऐसा देखने में आता है कि पिता मोहवश अपने पुत्र के अपराध पर उसे दण्डित न कर उसके कर्म की उपेक्षा कर देता हैं यह नियम आदेश देता है कि सत्यासत्य का विचार कर, पुत्र को दण्ड अवश्य देना चाहिए अन्यथा समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी। सत्य कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति को बिना पक्षपात के अपने और पराये का विचार न करते हुए समानरूप में उसके शुभाशुभ कर्म का फल अवश्य मिलना चाहिए।

आर्यों का व्यवहार प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार तो होना ही चाहिए, परन्तु वह यथायोग्य भी हो। The members and office bears of the Arya Samaj should deal with one another not as member of club, but members of the same family. Swami Dayanand has directed that it is the duty of every Arya to help other Aryas in distress, or in trouble of financial stringency.

आर्यसमाज के सदस्यों और पदाधिकारियों को एक दूसरे के साथ ऐसे व्यवहार करना चाहिए, जैसे वे एक ही परिवार के सदस्य हैं न कि आर्यसमाज के सदस्य। महर्षि दयानन्द ने सबको निर्देश दिये कि दुःख सुख में आपत्ति के समय उनकी हर प्रकार से धन आदि की सहायता करनी चाहिये। नियम का यह अंश बहुत महत्वपूर्ण और विचारणीय है। मनुष्यों में शारीरिक और मानसिक दृष्टि से भिन्नता होती है सबका स्वभाव एवं प्रवृत्ति समान नहीं होती। अतएव सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये। क्योंकि यदि कोई हथियार लेकर सामने से वार करने के लिए आ रहा है और उसका

मुकाबला न किया जाये तो वह हत्या भी कर सकता है। क्या उसके साथ प्रीतिपूर्वक वर्तना उचित है। महर्षि दयानन्द पर कई बार जान लेवा प्रहार हुए, महर्षि ने उन्हें ललकारा और मुकाबला किया। इसलिये महर्षि दयानन्द ने नियम में यथायोग्य वर्तने पर बल दिया है। अर्थात् मित्र के साथ मित्र भाव और दुश्मन के साथ दुश्मन जैसा व्यवहार करना चाहिए। नियम का भाव यह है कि जैसे को तैसा (Tit for tat) We have to take care that our behaviour has to be guided by due policy of suitability. If we come across an evil person who habitually and repeatedly misbehaves, how our dealing based on love with him can be successful. If we have to take out a pricked thron, we shall have to use pin a soft petal of folower can not help. Indian history is full of events when Indian force, through superior in valour, were defeated by foreign invaders because of lack of war policy, Prithviraj Chauhan had defeated Mohammad Gauri several times, but in false ego and against war policy, liberated him every time, but when he himself was defeated only once by him invader, he was ass assisinated as captive by Mohammad Gauri. The death of the last Hindu emperor was because he failed to extend right and due behaviour to the foreign invader. (Commentary on the Ten Principal of the Arya Samaj page 107).

हमें अपने व्यवहार के विषय में सावधानी बर्तनी चाहिए, दूसरों को इस सम्बन्ध में स्थिरता के लिये मार्गदर्शन करें। यदि हमारा ऐसे आदमी से सामना हो जाये जो आदतन दुर्व्यवहार करने का आदि हो, यदि हम उससे प्यार से बात करें तो क्या सफलता मिलेगी। यदि हमें बाहर से आघात पहुँचाया जाये, हम पिन प्रयोग करेंगे, फूल की पंखड़ियां कोई सहायता नहीं कर सकती। भारतीय इतिहास इसका साक्षी है, जबकि भारतीय फौज़ यद्यपि वीरता में प्रसिद्ध होते हुए विदेशी फौज़ों से पराजित होने का कारण युद्ध नीति की कमी। पृथ्वीराज चौहान ने मोहम्मद गौरी को अनेक बार हराया परन्तु एक झूठी प्रतिष्ठा के कारण वह मोहम्मद गौरी की पकड़ में आ गया। हिन्दू राजा की यह आखरी मौत थी क्योंकि वह अपने अधिकार, कर्त्तव्य और व्यवहार में

असफल हुआ। जैसे खीर का भोजन स्वादिष्ट और शक्तिवर्धक है, परन्तु एक रोगी के लिए यह अमृतमय भोजन विष का काम करता है। इसलिए सब व्यक्तियों को समान भोजन नहीं देना चाहिए। शारीरिक स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए व्यायाम और निद्रा की व्यवस्था में भी समानता नहीं हो सकती।

वैदिक व्यवस्था में मानव जीवन को चार वर्ण और चार आश्रमों में विभाजित किया गया हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण हैं और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम हैं। वर्णाश्रमरूप में इन सबके कर्त्तव्य और अधिकार भिन्न-भिन्न हैं। इनके अतिरिक्त और अनेक प्रकार के सम्बन्ध हैं, जैसे—स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, बन्धु-बान्धव, वृद्ध-बालक और अधिकारी और कर्मचारी। जब हममें प्रत्येक अपने-अपने पद के अनुसार अर्थात् यथायोग्य रीति से व्यवहार करता है तो कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता और समाज में शान्ति बनी रहती है। परन्तु अपने-अपने अधिकार का अतिक्रमण करते ही संघर्ष की स्थिति बन जाती है।

यथायोग्य व्यवहार का यह अनूठा नमूना है। काश कि वर्तमान सरकारें इस व्यवस्था की स्वीकार कर लें। यदि ऐसा होने लगे तो निश्चित है संसार से अन्याय, अत्याचार, चोरी, डकैती, हत्या, अपहरण आदि अपराध बहुत अंशों में मिट सकते हैं। ''क्योंकि यदि प्रजापुरुषों से राजपुरुषों को अधिक दण्ड न होवे तो राजपुरुष प्रजापुरुषों का नाश कर देवें। जैसे सिंह अधिक और बकरी थोड़े दण्ड से ही वश में आ जाती है, इसलिए राजा से लेकर छोटे-से-छोटे भृत्यपर्यन्त राजपुरुषों को अपराध में प्रजा-पुरुषों से अधिक दण्ड होना चाहिए।'' यथायोग्य का अर्थ है जैसे को तैसा। यदि कोई एक थप्पड़ मारे तो उसको तुरन्त कम से कम दो थप्पड़ अवश्य जड़ देने चाहिए। महर्षि इस पक्ष में नहीं कि किसी ने थप्पड़ मारा और वह थप्पड़ खाकर कहता है। अब की बार मार कर दिखा इस पर उसने फिर थप्पड़ जड़ दिया। यह यथायोग्य व्यवहार नहीं है। —षष्ठमूसमुल्लास

आठवाँ नियम

अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य संसार का उपकार करना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति का एक साधन छठे नियम में बतलाकर दूसरे साधन का विधान इस आठवें नियम में किया गया है। इस नियम के दो भाग हैं– 1. अविद्या का नाश और 2. विद्या की वृद्धि। प्रत्येक शास्त्र में उसके विषय के अनुसार विद्या और अविद्या के अनेक लक्षणादि वर्णन किये गये हैं। विस्तार भय से उन सबका यहाँ वर्णन करना सम्भव नहीं है, चूँकि आर्यसमाज के नियमों की रचना महर्षि दयानन्द ने की है। इसलिए उनके ग्रंथों में विद्या-अविद्या के स्वरूपादि का जैसा वर्णन किया गया है, उसी पर विचार करना समीचीन होगा।

महर्षि रचित व्यवहारभानु नामक लघु प्रस्तिका में लिखा है–

प्रश्न–''विद्या और अविद्या किसको कहते हैं?''

उत्तर–जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानकर उससे उपकार लेके अपने और दूसरों के लिए सब सुखों को सिद्ध कर सकें वह 'विद्या' और जिससे पदार्थों के स्वरूप को उलटा जानकर अपना और पराया अनुपकार कर लेवें, वह 'अविद्या' कहाती है।

जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा जानना 'विद्या' और विपरीत जानना अविद्या है, रज्जु को रज्जु जानना विद्या और उसे सर्प समझना अविद्या है। यह परिभाषा सर्वग्राह्य है। इसमें किसी प्रकार का मतभेद होने का स्थान नहीं है। वैशेषिक दर्शन 9.2.11-12 में इस प्रकार कहा है–तद् दुष्टं ज्ञानम्। वह अविद्या दोषपूर्ण ज्ञान है। सूत्र का तात्पर्य यह है–जो वस्तु जैसी नहीं है, उसका वैसा दीखना अविद्या है। अगला सूत्र इस प्रकार है–अदुष्टं विद्या, अर्थात् जो ज्ञान दोषपूर्ण नहीं है, वह विद्या है। इसी को 'प्रमा' नाम से कहा जाता है। अविद्या से विपरीत होने के कारण विद्या का स्वरूप होगा–जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही जानना।

विद्या की यह परिभाषा बहुत सरल है, परन्तु व्यवहार में हम अनेक

बार धोखा खा जाते हैं। दुष्ट व्यक्ति को सज्जन समझ लेते हैं और सादी वेशभूषा में रहने वाले सरल प्रवृति के चरित्रवान् व्यक्ति को मूर्ख समझ जाते हैं। यदि दार्शनिक दृष्टि से विचार किया जाए तो हम अनित्य जगत् को नित्य और काल्पनिक प्रतिमाओं को परमात्मा समझ लेते हैं, परन्तु परमेश्वर, सर्वज्ञ, निराकार और सर्वदेशी है। इसलिए प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि विद्या के वास्तविक स्वरूप को कैसे जाने? इस बारे में महर्षि दयानन्द व्यवहारभानु में लिखते हैं–

प्रश्न–विद्या किस-किस प्रकार और किन कर्मों से होती है?

उत्तर–**चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति।**

आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति।।

–महा. अ. 1.1.1 आ. 1

विद्या चार प्रकार से आती है–आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहारकाल... तथा अन्य भी चार कर्म विद्या-प्राप्ति के लिए हैं–श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार। इन आठों की परिभाषा यहाँ देना सम्भव न हो सकेगा। इसके लिए मूल पुस्तक को ही देखना लाभकारी होगा।

महर्षि दयानन्द ने विद्या के बारे में जो लिखा है, उसके दो भाग हैं–1. विद्या का स्वरूप और 2. उस स्वरूप को जानकर उससे उपकार लेके अपने और दूसरों के लिए सुखों को सिद्ध करना। विद्या का केवल सैद्धान्तिक ज्ञान पर्याप्त नहीं है। नारद ने सनत्कुमार ऋषि के पास जाकर कहा–''भगवन्! मुझे उपदेश दीजिए।'' सनत्कुमार ने कहा–''जितना तुमने पढ़ा है, उतना बताओ, जिससे आगे मैं तुम्हें बताऊँ।'' नारद ने उत्तर दिया–''मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अर्थववेद पढ़ा है, इनके सिवा इतिहास, पुराण, व्याकरण, पितृ-विद्या, गणित, दैव-विद्या, अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र, भूत-विद्या, क्षत्र-विद्या, नक्षत्र-विद्या, सर्प-विद्या और नृत्य, संगीत आदि भी जानता हूँ। यह सब तो मैं जानता हूँ, परन्तु मैं मंत्रवित् हूँ, आत्मवित् नहीं,'' अर्थात् मैंने पुस्तकें तो रट ली हैं, परन्तु मुझे आत्मशान्ति नहीं मिली। इसी प्रकार संसार में पदार्थों का सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त कर लेने वाले विद्वान् तो बहुत भरे पड़े हैं,

परन्तु उन्हें आत्मिक शान्ति नहीं है । इसलिए विद्या की उक्त परिभाषा के दूसरे भाग में कहा गया है कि उस विद्या से मनुष्य को अपनी भलाई करनी चाहिए और साथ ही दूसरों का भी उपकार करना चाहिए। यहाँ विद्या के आचरण-पक्ष पर बल दिया गया है ।

विद्या की प्राप्ति से पूर्व अविद्या का नाश करना आवश्यक हैं दुरितों के दूर होने के बाद ही भद्र की प्राप्ति होती है । वस्त्र से मैल निकालने के बाद ही टिनोपाल और नील की रौनक आती है । इसलिए प्रस्तुत नियम में पहले अविद्या को दूर करने की बात कही गई है । महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश नवम्समुल्लास में योगदर्शन के सूत्र के आधार पर अविद्या के चार भाग किये हैं । 1. अनित्य संसार को नित्य समझना । अपवित्र को पवित्र समझना, 2. दुखः को सुख समझना, 3. अनात्मा में आत्मबुद्धि करना और 4. सब प्रकार की अविद्या का कारण सत्योपदेश का अभाव है । सत्यार्थप्रकाश, एकादशसमुल्लास में लिखा है—जब सच्चा उपदेश न रहा तब आर्यावर्त्त में अविद्या फैलकर परस्पर में लड़ने-झगड़ने लगे, क्योंकि—

उपदेश्योपदेष्ट्रत्वात् तत्सिद्धिः । इतरथान्धपरम्परा, अर्थात् जब उत्तम-उत्तम उपदेशक होते हैं, तब अच्छे प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सिद्ध होते हैं और जब उत्तम उपदेशक और श्रोता नहीं रहते, तब अन्ध-परम्परा बढ़ती है । फिर भी जब सत्पुरुष उत्पन्न होकर सत्योपदेश करते हैं, तभी अन्ध-परम्परा नष्ट होकर प्रकाश की परम्परा चलती है ।'' इस नियम का सही-सही पालन करने के लिए आर्यसमाजों, आर्यप्रतिनिधि प्रान्तीय सभाओं और सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधिसभा को योग्य आर्यपुरोहित, भजनोपदेशक और उपदेशकों की व्यवस्था करनी चाहिए । उपदेशकों को अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करने के लिए प्रचुर मात्रा में वेतन-दक्षिणा दी जाए। समाज में उनको सम्मान का स्थान प्राप्त हो । आर्यसमाज की वेदि से वैदिक-सिद्धान्तों-सम्बन्धी तुलनात्मक व्याख्यान दिये जाएँ । समय-समय पर आर्यविद्वानों विचारकों और शुभचिन्तकों की गोष्ठियाँ

आयोजित की जाएँ, जिनमें प्रचार के प्रकार और समस्याओं पर गम्भीरता से विचार किया जाए।

आठवें नियम के उत्तरार्द्ध में विद्या की वृद्धि (केवल प्राप्ति नहीं) करने का आदेश है। वह कैसे हो? जैसाकि नियम के पूर्वार्द्ध में कहा है—आर्यों को सर्वप्रथम अविद्या का नाश करना चाहिए। उसके बाद विद्या-प्राप्ति की इच्छा करें। पुरुषार्थ से प्राप्त विद्या की यथावत् रक्षा और रक्षित की वृद्धि और बढ़ी हुई विद्या से संसार का उपकार करना।

नवाँ नियम

प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

नियम संख्या आठ, अर्थात् अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करने से मनुष्य की वैयक्तिक उन्नति हो सकती है, परन्तु इतने मात्र से मनुष्य को सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए। छठे नियम में बतलाये गये लक्ष्य (संसार का उपकार करना) का स्मरण कराते हुए प्रस्तुत नियम में कहा गया है कि सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए। केवल अपना ही ध्यान रखने से व्यक्ति स्वार्थी बन जाता है। स्वार्थ में अन्धा होकर व्यक्ति फिर कुछ भी नहीं सोचता, उसे केवल अपना-ही-अपना दिखाई पड़ता है। उचित-अनुचित का विवेक नष्ट हो जाता है और उस स्थिति में मनुष्य घृणित-से-घृणित कार्य करने में भी नहीं झिझकता। स्वार्थवश वह पशु-स्तर पर उतर आता है, तब उससे केवल अपना आपा ही दिखाई देता है। मनुष्य इस दोष से बच सके, इस हेतु उसे आदेशित किया गया है कि वह दूसरों के हित का भी ध्यान रखे। उसे समझना चाहिए कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज के सहयोग से ही व्यक्ति के सारे कार्य सम्पन्न होते हैं। परस्पर आदान-प्रदान पर ही समाज ठहरा हुआ है।

वह भी विचारणीय है कि कोई भी व्यक्ति अकेला पूर्णतः उन्नत

होकर सुखी नहीं हो सकता, जब तक दूसरों की प्रगति न हो। आप स्वयं उच्चतम शिक्षा प्राप्त हैं, आलीशान बंगले में रहते हैं। आपका घर धन-धान्य से भरपूर है, लेकिन आपके घर के चारों ओर रहने वाले व्यक्ति अशिक्षित, दुर्गुणों से लिप्त, दिन-रात झगड़ा करने वाले और उच्च स्वर में परस्पर गाली-गलोज करते रहते हैं उनके मकानों में स्वच्छता का प्रवेश वर्जित है। चारों ओर गन्दगी-ही-गन्दगी है। क्या ऐसे वातावरण में आप सुख की नींद सो सकते हैं? कारण स्पष्ट है कि मनुष्य जिस समाज में रहता है, उसमें एक का फल दूसरों को भोगना पड़ता है। कुछ विद्वान् इस मत से सहमत नहीं है। उनके मत में मनुष्य अपने किये कर्म से ही सुखी-दुःखी होता है। अन्य के कर्म का फल अन्य नहीं भोग सकता।

यह तो पूर्णतः सत्य है, परन्तु इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उठता है कि क्या अन्यों के कर्मफल से नहीं, अपितु अन्यों के कर्ममात्र से अन्य सुखी-दुःखी हो सकते हैं? इस वाद के समर्थन में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इसलिए उसकी सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि समाज का गठन हो। समाज पारस्परिक सहायता के बिना नहीं बन सकता। सहायता का अर्थ यह है कि एक व्यक्ति अपने कर्म से दूसरे की आवश्यकता पूरी करे। जब इस प्रकार एक-दूसरे की आवश्यकता पूरी किया करते हैं, तभी समाज बन सकता है।

एक अध्यापक छात्रों को पढ़ाकर उनके ज्ञान की पूर्ति करता है और उसके बदले में सरकार उसको वेतन देती है। अतः स्पष्ट है कि बिना इस प्रकार की सहायता के समाज नहीं बन सकता और समाज बना हुआ मौजूद है, इसलिए अनिवार्य रीति से यह मानने के लिए बाधित होना पड़ता है कि एक के कर्म से दूसरे को हानि-लाभ पहुँचा करता है। कल्पना करो कि शीत-ऋतु में कुछ व्यक्तियों के पास शीत से अपनी रक्षा करने के साधन नहीं हैं। एक सम्पन्न दानी ने उन सबको रजाई अथवा कम्बल प्रदान कर दिये, फलस्वरूप उन सभी निर्धनों का कष्ट दूर हो गया और उन सभी को सुख प्राप्त हुआ। यहाँ सुख का कारण तो दानी का कर्म ही है। उसका फल तो

दानी स्वयं पावेगा, क्योंकि यह दान उसी का कर्म था, परन्तु उसके दानरूप कर्म से अनेक निर्धनों को लाभ हआ। इसके विपरीत चोरी आदि बुरे कर्मों से जिसकी चोरी होती है, उसे दुःख पहुँचता है।

इस प्रकार दूसरों के कर्म से कोई पुरुष सुखी और दुःखी दोनों हो सकता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य हो जाता है कि जहाँ अपने को अच्छा बनाने का यत्न करे, वहाँ दूसरों को भी अच्छा बनाने का पुरुषार्थ करें। जब सभी अच्छे बन जाएँगे तब दुःख कहाँ रहेगा? हमें ऐसी प्रार्थना प्रतिदिन करनी चाहिए–

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।

अर्थात् हे प्रभु! सब सुखी हों, सब स्वस्थ और निरोगी हो, सबका कल्याण हो और कोई भी प्राणी दुःखी न हो।

दसवाँ नियम

सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

समाज में कई अवसर ऐसे आते हैं, जब वैयक्तिक और सामाजिक कर्त्तव्यों में विरोध उत्पन्न हो जाता है और हमारे सामने दो पक्ष उपस्थित होते हैं। एक पक्ष व्यक्ति को ही प्रमुखता देता है, उसकी दृष्टि में व्यक्ति ही सर्वोपरि है, क्योंकि व्यक्तियों से ही समाज का गठन होता हैं व्यक्ति के उन्नत और समृद्ध होने पर ही समाज उन्नत और समृद्ध हो सकता है। अतः व्यक्ति को सामने रखकर ही हर व्यवस्था और नियम बनना चाहिए। व्यक्ति के हित के लिए समाज के हित की उपेक्षा कर देनी चाहिए। दूसरा पक्ष समाज को ही प्रमुखता देता है, क्योंकि समाज से पृथक् व्यक्ति की कोई सत्ता नहीं है। प्रत्येक बात के लिए वह जन्म से लेकर मरणपर्यन्त समाज पर ही आश्रित रहता है। वर्तमान में कम्यूनिस्ट विचारधारा इसी की पक्षधर है। इस विचारधारा के अनुसार वैयक्तिक स्वतन्त्रता का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता, व्यक्ति समाज के लिए भाड़े का एक टट्टू हो जाता है। कम्यूनिज्म में व्यक्ति

को मिटा दिया जाता है, उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया जाता है और व्यक्ति राजनीतिक दलरूपी मशीन का एक पुर्जामात्र रह जाता है, उसकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है, वह अपने-आप कुछ नहीं सोच सकता।

वस्तुतः ये दोनों पक्ष अधूरे हैं और सामाजिक समस्या का सन्तोषजनक समाधान करने में असमर्थ हैं। प्रस्तुत दशम नियम में इस समस्या का सही सन्तोषजनक समाधान किया गया है। इस नियम में व्यक्ति की स्वतंत्रता और परतन्त्रता की सीमा नियत की गई है। हर प्रकार के सामाजिक नियम के पालन करने में परतन्त्र रहने की बात इस नियम में नहीं कही गई। बाल-विवाह, सती-प्रथा, छूतछात, दहेज आदि समाजों के कई सामाजिक परम्पराएं हैं, किन्तु ये परम्पराएं सर्वहितकारी न होकर अहितकारी हैं। अतः व्यक्ति को इस प्रकार के परम्पराओं का पालन नहीं करना चाहिए और उनके विरुद्ध विद्रोह करना चाहिए। वास्तव में व्यक्ति को केवल उन्हीं सामाजिक, परम्पराओं का पालन करना चाहिए जो सर्वहितकारी हों। जो कर्म व्यक्ति के लिए हितकारी प्रतीत होते हों, परन्तु जिनसे समाज के गौरव को क्षति पहुँचती हो, धर्म की हानि होती हो उन कर्मों को करने में व्यक्ति परतन्त्र है, परन्तु कुछ वैयक्तिक हितकारी नियम ऐसे भी हैं, जिनके पालन करने से सामाजिक हानि नहीं होती।

एक उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा। शास्त्र में कहा है कि व्यक्ति को प्रातः काल ब्रह्ममुहूर्त में उठकर धर्मार्थ का चिन्तन करना चाहिए। क्या सभी व्यक्ति इसका पालन कर सकते हैं? सायं छह बजे से रात्रि दो बजे तक ड्यूटी देने वाला कर्मचारी फैक्टरी से घर लौटकर ढ़ाई बजे सोता है और उसे लगभग पाँच-छह घण्टे की नींद भी लेनी चाहिए। उससे कैसे आशा की जा सकती है कि वह प्रातः चार बजे ब्रह्ममुहूर्त में जागकर धर्मार्थ का चिन्तन करे। हाँ, जो व्यक्ति रात्रि नौ बजे सोता है, उसे अवश्य प्रातः ब्राह्ममुहूर्त में जग जाना चाहिए। इस बात को सभी जानते हैं कि समाज के सभी व्यक्तियों की स्थिति और साधन समान नहीं है, इसलिए अपने वैयक्तिक कर्त्तव्यों जैसे—शयन,

जागरण, स्नान, व्यायाम, भोजन, स्वाध्याय करना आदि में सब स्वतन्त्र हैं ।

पातंजल-योगदर्शन में यम-नियम पालन करने की बात कही है । यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह । ये सभी सामाजिक कर्त्तव्य हैं जिनके पालन करने में प्रत्येक व्यक्ति को परतन्त्र रहना चाहिए । इनका पालन न करने पर उसे सामाजिक और राजकीय दण्ड भोगने के लिए तैयार रहना चाहिए । नियम भी पाँच हैं—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्राणिधान । ये मनुष्य के वैयक्तिक कर्त्तव्य हैं । इनका पालन करने में व्यक्ति स्वतन्त्र है । इनका सम्यग्रूपेण पालन करने वाले व्यक्ति का हित होता है ।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि सामाजिक और वैयक्तिक कर्त्तव्यों का पालन साथ-साथ करना चाहिए, केवल एक का पालन करने से व्यक्ति का हित नहीं हो सकता । महर्षि दयानन्द मनुस्मृति के आधार पर सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास-3 में लिखते हैं—''यमों के बिना केवल इन नियमों का सेवन न करें, किन्तु इन दोनों का सेवन किया करे । जो यमों का सेवन छोड़ के केवल नियमों का सेवन करता है, वह उन्नति को नहीं प्राप्त होता, किन्तु अधोगति, अर्थात् संसार में गिरा रहता है ।''

इन दस नियमों को मानना प्रत्येक आर्यसमाज के सब सदस्यों के लिये अनिवार्य है । इन नियमों का एक-एक शब्द ऋषि दयानन्द के गम्भीर ज्ञान व चिन्तन का प्रतीक है । प्रथम तीन नियमों से पता चलता है कि यह संस्था आस्तिकवादी, एकेश्वरवादी व ईश्वर के नित्य, अनादि ज्ञान वेद को मानने वाले लोगों का धार्मिक एवं समाज सुधारक संगठन है । आर्यसमाज के प्रथम पांच नियमों में सत्य शब्द आया है । इसके संस्थापक की दृष्टि में सत्य व न्याय मनुष्यपन की आधारशिला है । सत्य पर ऋषि दयानन्द ने बड़ा बल दिया है । आर्यसमाज की विचारधारा के अनुसार सत्य को जानना व मानना ही आवश्यक नहीं, इसको जीवन में लाना अत्यावश्यक है । आर्यसमाज का चौथा नियम सदाचरण पर बड़ा बल देता है । उस धर्म का क्या लाभ जिससे

व्यक्ति व समाज का सुधार न हो, आर्यसमाज बुद्धि पर ताला लगा कर किसी को धार्मिक नहीं बनाता। बुद्धि भी ईश्वर की ही देन है। वेद में तो एक सूक्त का नाम ही मेधासूक्त है। आर्यसमाज सब कार्य बुद्धिपूर्वक सोच विचार कर करने की प्रेरणा करता है। अन्धविश्वास का नाम श्रद्धा नहीं है। अंधश्रद्धा को आर्यसमाज धर्म का अंग नहीं मानता। आर्यसमाज का चौथा नियम इस बात का प्रमाण है।

आर्यसमाज के शेष पांच नियम व्यक्ति के सामाजिक कर्त्तव्यों का बोध करवाते हैं। जिस समाज में हम रहते हैं, उसके प्रति हमारे कुछ कर्त्तव्य हैं। समाज में हम कैसे जीवन बितायें, हमारा परस्पर का व्यवहार कैसा हो? यह इन पांच नियमों में बताया गया है। आर्य-सामाजिक विचारधारा न तो व्यक्तिवाद को मानती है और न समाज को इतना महत्व देती है कि व्यक्ति के हितों की हत्या हो जाए। व्यक्तिगत उन्नति के बिना व्यक्ति का विकास संभव नहीं।

परमात्मा के स्वरूप, ईशोपासना, आत्मा एवं परमात्मा के सम्बन्ध व ईश्वरीय ज्ञान की चर्चा के साथ व्यक्ति का व्यक्ति से कैसा व्यवहार हो और व्यक्ति का समाज से सम्बन्ध कैसा हो, इन बातों को अपने नियमों में महत्वपूर्ण स्थान देने वाला विश्व का सर्वप्रथम धार्मिक संगठन आर्यसमाज ही है। इसे आप महर्षि दयानंद का मौलिक चिन्तन समझें।

संसार में ऐसा कोई दूसरा धार्मिक संगठन नहीं मिलेगा जिसके नियमों में प्रभुस्वरूप, उसके गुण, कर्म व स्वभाव का इतना सुन्दर व स्पष्ट वर्णन किया गया है। ''उसी की उपासना करनी योग्य है।'' यह घोषणा करने वाला महर्षि दयानंद वस्तुतः एक निराला महापुरुष था। आर्यसमाज के दूसरे नियम में परमात्मा के 20 नाम दिये गये हैं। किसी भी अन्य पन्थ का परिचय देने वाले किसी ग्रंथ में एक ही पृष्ठ पर परमात्मा के स्वरूप का बोध करवाने वाले इतने नाम कहीं नहीं मिलते। आर्यसमाज की मान्यता है कि परमात्मा के अतिरिक्त जड़, स्थल, नदी, पर्वत व चाँद, सूरज, सितारों सब की पूजा निरर्थक है क्योंकि ये जड़ हैं न किसी को कुछ दे सकते हैं न ही इनमें

किसी को कुछ देने की सामर्थ्य है। आर्यसमाज ईश्वरेतर सब प्रकार की पूजा का घोर विरोधी रहा है। इस कारण व्यक्ति-पूजा, जड़-पूजा व नदी, वृक्ष, क़ब्र आदि की पूजा में आस्था रखने वालों ने आर्यसमाज का सदा विरोध किया है। जैसे गुरु नानक देव भी लिखते हैं–

एको सिमरो नानका, जो जल थल रहा समाई।

दूजो काहो सिमरिये, जो जन्म ते मर जाई।।

आर्यसमाज की मान्यता है कि व्यक्ति यदि परमात्मा को सर्वव्यापक, सर्वज्ञ व सर्वद्रष्टा मानकर अपना व्यवहार करें तो संसार से पाप, ताप, सब दूर हो जायें और धरती स्वर्ग बन जाये, परन्तु मनुष्य का दुर्भाग्य यही है कि इस कम्प्यूटर युग में भी परमात्मा को अपने हृदय में न मानकर अन्य-अन्य दूरस्थ स्थानों पर मानते हैं और उन स्थानों को जिन्हें वे तीर्थ कहते हैं–यात्राओं में समय, धन व शक्ति का अपव्यय करते हैं। इससे अन्धविश्वास को ही प्रोत्साहन मिलता है।

आर्यसमाज प्राचीन ऋषियों की इस मान्यता में अटल विश्वास रखता है कि जिस परमात्मा ने सृष्टि रचकर जीवों को सब कुछ दिया उसने सब पदार्थों के उपयोग, प्रयोग व आत्मोन्नति के लिए अपना नित्य अनादि ज्ञान वेद भी सृष्टि के आदि में चार ऋषियों द्वारा दिया। भाषा का आविर्भाव भी परमात्मा द्वारा सृष्टि के आदि में हुआ।

वस्तुतः इन 10 नियमों को आर्य समाज, समाज का संविधान मानता है। आर्य समाज के दस नियम चार वेद, छः दर्शन शास्त्रों का सार है। इन नियमों के पालन से मनुष्य सब प्रकार की बुराइयों का त्याग करके अपने जीवन को सुखी व समृद्ध बना सकता है। महर्षि दयानन्द ने आर्य समाज के दस नियमों को बड़ी ही सूझबूझ तथा बड़े ही सुनिश्चित व वैज्ञानिक ढंग से बड़े ही सिस्टेमेटिक (systematic) तरीके से बनाया है। सर्वप्रथम सत्य विद्या और पदार्थ विद्या को जानने की बात कही और उन सबका आदिमूल परमेश्वर को बतलाया। क्योंकि सत्य विद्या वेदों में है और विद्या से ही पदार्थ

विद्या अथवा तत्त्वज्ञान होता है। इन सबको बनाने वाला परमेश्वर है। वेद ज्ञान भी ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में दिया, वेदों में तत्त्वज्ञान भी है। बिना तत्त्वज्ञान के मनुष्य कुछ भी नहीं बना सकता। इसलिए महर्षि ने सत्य विद्या और पदार्थ विद्या की बात कही और उनका आदि मूल परमेश्वर को बतलाया।

दूसरे नियम का संबंध प्रथम नियम से है। उस अनादि मूल परमेश्वर को जानने के लिये दूसरे नियम में ईश्वर के सत्य स्वरूप, गुण-कर्म-स्वभाव को संक्षिप्त में अर्थात् ईश्वर के 20 स्वरूप को रखा। जब तक मनुष्य ईश्वर के विषय में नहीं जान पायेगा तब तक वह काल्पनिक प्रतिमाओं को ही ईश्वर मानता रहेगा। बिना ईश्वर के सत्यस्वरूप को जाने मनुष्य कभी असत्यमार्ग पर चल कर अपने जीवन को सुख-समृद्ध नहीं बना सकता। तीसरे नियम का संबंध दूसरे नियम से है जिसमें वेद को सब सत्य विद्याओं का पुस्तक बतलाया। वेद के पढ़े सुने बिना मनुष्य सत्य विद्या को नहीं जान सकता और बिना सत्य विद्या के कभी मनुष्य की उन्नति नहीं हो सकती। चौथे नियम का सम्बन्ध तीसरे नियम से जुड़ा है। मनुष्य सत्य को जान तो लेता है परन्तु जब तक वह सत्य को ग्रहण नहीं करेगा और असत्य का त्याग नहीं करेगा तब तक उसका कल्याण नहीं हो सकता।

पाँचवें नियम का आधार भी चौथा नियम है। जब तक मनुष्य सत्य-असत्य का विचार कर धर्मानुसार कार्य नहीं करेगा। पाप कर्मों में फंसा रहेगा, तब तक कोई सुधार नहीं हो सकता। छठे नियम का पांचवें नियम से गहरा संबंध है। संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है। उपकार कैसे होता है प्रथम शरीर से, जब शरीर स्वस्थ है तो वह उपकार कार्य कर सकेगा, बलवान् और मानसिक रूप से स्वस्थ मनुष्य दूसरों को आध्यात्मिक ज्ञान दे सकता है। समाज की उन्नति केवल स्वस्थ पुरुष, आत्मिक बल रखने वाले ही कर सकते हैं, क्योंकि समाज से बुराइयों को दूर करना कमजोर और अज्ञानी का काम नहीं है।

सातवां नियम भी छठे नियम से जुड़ा है। जब मनुष्य समाज सुधार के लिये उपदेश करेगा तो उसे दूसरों को प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य

वर्तना होगा। इसमें तीन बातें हैं। प्रथम प्रीति यह अति आवश्यक है, किसी को ताड़ना करके, उपदेश नहीं दिया जा सकता, ढंग से उसे समझाना होता है। धर्मानुसार वर्तना मित्र के साथ मित्रभाव से दुश्मन के साथ दुष्टता से वर्तना योग्य है। यथायोग्य अर्थात् जैसे को तैसा। कोई हथियार से हमला करे तो वहाँ यथायोग्य ही वर्तना चाहिए, वह प्रीति से मानने वाला नहीं। आठवें नियम में अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि की बात कही गई है। जब तक समाज से अविद्या का नाश न होगा तब तक कोई सुधार नहीं हो सकता। अविद्या का नाश केवल विद्या से हो सकता है। इसके लिए सत्यज्ञान पाठशालाओं में बच्चों को दिया जाना चाहिये। नौवाँ नियम उन्नति से जुड़ा है। मनुष्य स्वार्थी है वह सब कुछ अपने लिये ही चाहता है, परन्तु सब की उन्नति होने पर ही मनुष्य सुखी रह सकता है। इस नियम में उनकी उन्नति की भी बात कही गई है जो सम्पन्न नहीं हैं। समाज के निर्माण के लिये असहायों को भी सहारा देना चाहिये। सब नियम क्रमानुसार बनाये गये हैं। इनका सभी पालन करें।

यदि कोई भी व्यक्ति इन 10 नियमों में से एक ही नियम पर अमल कर ले तो वह मानव बन जायेगा और यदि सारे नियमों पर अमल करले तो महामानव बन जायेगा। परन्तु हम उपदेश देते हैं टन भर, सुनते हैं मन भर और अमल करते हैं कण भर।

4. आर्यसमाज का संगठन

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गू वदन्त एत संध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ।।

अथर्व० 3.30.5

देश के सर्वाधिक सशक्त तथा प्रभावशाली सुधार आन्दोलन के रूप में आर्यसमाज के उभर आने का एक महत्वपूर्ण कारण उसका परिपूर्ण तथा अद्वितीय संगठन है । सामान्यतः प्रत्येक नगर तथा ग्राम में एक आर्यसमाज होता है, परन्तु कई नगरों में एक से अधिक आर्यसमाजें भी हैं जिसका कारण नगर के भागों की एक दूसरे से दूरी है अथवा सिद्धान्तों में किंचित अन्तर भी भिन्न-भिन्न समाजों का कारण है । सिद्धान्तों के अन्तर के कारण आर्यसमाजों की पृथक् शाखाओं का होना केवल पंजाब तक ही सीमित है ।

1. सदस्यता–

आर्यसमाज के सक्रिय सदस्य होने के लिये यह आवश्यक है कि एक व्यक्ति –

(1) दस नियमों को स्वीकार करें ।

(2) आर्यसमाज के कोश में अपनी आय का एक प्रतिशत मासिक से जमा कराये ।

(3) साप्ताहिक सत्संग में उपस्थित हो ।

(4) अपने आचरण को शुद्ध रखे ।

2. साप्ताहिक सत्संग–

प्रति सप्ताह आर्यसमाजों के साप्ताहिक अधिवेशन होते हैं जिनमें (1) यज्ञ, (2) भजन-गान, (3) संध्या, (4) प्रवचन होते हैं । आर्यसमाज के अधिकारी जिस व्यक्ति से भी साप्ताहिक सत्संग की कार्यवाही-प्रार्थना, भजन, व्याख्यान आदि कराना चाहें, बिना किसी जाति भेद का विचार किये करा सकते हैं । आर्यसमाज पुरोहित नियुक्त करता है । किसी सामान्य सदस्य को भी संध्या, प्रवचन आदि कराने के लिये कहा जा सकता है । साप्ताहिक सत्संग

आम जनता के लिये ही आयोजित किये जाते हैं, इसलिये उसमें सदस्य अथवा गैर सदस्य, हिन्दू या गैर हिन्दू का भेद नहीं किया जाता । प्रत्येक व्यक्ति उसमें आ सकता है । प्रभुमंदिर में कोई भी व्यक्ति आ सकता है और अपनी इच्छानुसार बैठ सकता है ।

3. अन्तरंग सभा –

आर्यसमाज की सम्पूर्ण कार्यवाही एक अन्तरंग सभा द्वारा नियंत्रित होती है । इस सभा में चुने हुए अधिकारी तथा समाज के सभासदों के आनुपातिक प्रतिनिधि होते हैं । केवल सक्रिय सभासद् ही अन्तरंग सभा तथा अधिकारियों के चुनाव में भाग ले सकते हैं । अधिकारीगण निम्न प्रकार से होते हैं । (1) प्रधान, (2) एक या अधिक उप-प्रधान, (3) एक मंत्री या अधिक मंत्री (4) कोषाध्यक्ष, (5) पुस्तकाध्यक्ष । ये सभी अधिकारी सक्रिय सदस्य होने चाहिये । इन सभी का चुनाव एक वर्ष की अवधि के लिये, इसी प्रयोजन से आमंत्रित की गई वार्षिक सभा में होता है । इस वार्षिक अधिवेशन में अवकाश ग्रहण करने वाली अन्तरंग सभा तथा अधिकारीगण विगत वर्ष का आय-व्यय का विवरण प्रस्तुत करते हैं तथा आर्यसमाज की वार्षिक कार्यवाही का ब्यौरा देते हैं ।

इसके पश्चात् आगामी वर्ष के लिये अधिकारियों तथा अन्तरंग सभा का निर्वाचन होता है । अवकाश ग्रहण करने वाली सभा तथा विगत वर्ष के अधिकारी भी पुनः चुनाव लड़ सकते हैं । बड़ी समाजों में सदस्यों को दस-दस के वर्गों में विभाजित किया जाता है तथा पुनः उन वर्गों के ही प्रतिनिधि चुनकर अन्तरंग सभा में लिए जाते हैं । समाज का साधारण अधिवेशन अन्तरंग सभा के प्रस्ताव पर किन्हीं विशिष्ट मुद्दों पर विचारार्थ आमंत्रित किया जा सकता है । अधिकारी भी अपनी इच्छानुसार सभा आमंत्रित कर सकते हैं । अथवा साधारण सभा की एक विशिष्ट सदस्य संख्या किन्हीं विशेष बातों पर विचार करने के लिए साधारण सभा बुला सकती है ।

आय का 1% मासिक चंदा न देने अथवा किसी अन्य प्रकार का अनैतिक आचरण सिद्ध हो जाने पर किसी सदस्य को आर्यसमाज की सदस्यता से निलम्बित किया जा सकता है अथवा उसका नाम सदा के लिये

सक्रिय सदस्य पंजिका से हटाया भी जा सकता है। अन्तरंग सभा अपने निर्णय के आधार पर, ऐसे सदस्य को अपराधी सिद्ध न होने पर, पुनः सदस्यता प्रदान कर सकती है परन्तु अन्तरंग सभा के निर्णयों के सम्बन्ध में साधारण सभा में पुनर्विचार हेतु अपील भी की जा सकती है। आर्यसमाज के सिद्धान्तों तथा उसके विधान में परिवर्तन करने का अधिकार अन्तरंग अथवा साधारण सभा को नहीं है।

4. प्रान्तीय सभा–

प्रत्येक प्रान्त में एक प्रतिनिधि सभा होती है जिसमें उस प्रान्त की आर्यसमाजों के चुने हुए प्रतिनिधियों का समावेश होता है। प्रतिनिधियों की संख्या का निर्धारण पृथक्-पृथक् आर्यसमाजों की सदस्य संख्या पर निर्भर होता है। प्रत्येक आर्यसमाज अपनी वार्षिक आय का दशांश प्रान्तीय सभा को कार्य संचालनार्थ प्रदान करते हैं, परन्तु प्रान्तीय सभा को भी विशिष्ट प्रयोजनों के लिये अपनी अन्तरंग सभा की अनुमति से विशेष धन संग्रह करने का अधिकार होता है तथा प्रायः ऐसी धनराशि एकत्रित भी की जाती है। प्रान्तीय सभा वैतनिक अथवा अवैतनिक उपदेशकों के द्वारा वैदिक धर्म के प्रचार की व्यवस्था करती है। प्रायः यह सभा अपना मुख पत्र भी प्रकाशित करती है तथा साहित्य के मुद्रण व प्रकाशन की व्यवस्था करती है। आन्दोलन के हित में वह अन्य सभी आवश्यक कार्य करती है। यदि शिक्षण संस्था के प्रबंध हेतु कोई पृथक् संगठन नहीं होता तो आर्यसमाज की अन्तरंग सभा ऐसी शिक्षणसंस्था की प्रबंध व्यवस्था भी देखती है। यह सभा आवश्यकता होने पर प्रान्त की समस्त आर्यसमाजों की सामान्य सहमति से अपनी प्रबन्ध व्यवस्था के नियमों में परिवर्तन कर सकती है, किन्तु उसे आर्यसमाज के सिद्धान्तों तथा मन्तव्यों में परिवर्तन करने का कोई अधिकार नहीं है।

5. सार्वदेशिक सभा–

आर्यसमाज की सर्वोपरि सभा सार्वदेशिक सभा है, जिसमें विभिन्न प्रान्तीय सभाओं के प्रतिनिधि एकत्रित होते हैं। यह सभी प्रान्तीय सभाओं को आपस में जोड़ने की कड़ी का काम करती है।

6. युवक समाज–

विभिन्न नगरों की आर्यसमाजों से सम्बन्धित युवक समाजें भी हैं जो

आर्यसमाजों में युवकों के प्रवेश का साधन है। युवक समाज में वे सभी प्रविष्ट हो सकते हैं जो ईश्वर में विश्वास रखते हैं तथा एक स्वल्प राशि चन्दे के रूप में देने के लिये तैयार रहते हैं। इससे अधिक कोई अन्य शर्त नहीं है। जैसे डॉ० अनिल आर्य ने 3.6.1978 को देहली आर्य युवक परिषद् की स्थापना की थी। आज यह परिषद् युवकों में संस्कार, निर्धन युवकों में वस्त्र आदि बाँटकर एक सराहनीय कार्य कर रही है।

7. सभा स्थल–

प्रत्येक आर्यसमाज का अपना सभा भवन होता है। समस्त भारत के बड़े-बड़े नगरों में आर्यसमाजों के भव्य भवन हैं जिनमें व्याख्यान-गृह, समिति कक्ष, यज्ञशालायें आदि होती हैं। छोटे स्थानों पर किराये के मकानों में भी समाज चलाये जाते हैं। युवक समाजें प्रायः आर्यसमाज भवनों को ही प्रयुक्त करती है, किन्तु उन्हें वहाँ भी पृथक् कमरा दे दिया जाता है। किन्हीं स्थानों पर आर्यसमाजों में दैनिक उपासना भी होती है तथा व्यायाम आदि के सामूहिक कार्यक्रम होते हैं। प्रत्येक समाज से यह आशा की जाती है कि वह हिन्दी तथा संस्कृत में अनभिज्ञ सभासदों को हिन्दी तथा संस्कृत सिखाने की व्यवस्था करे। अनेक स्थानों पर आर्यसमाजें लड़कों तथा लड़कियों के पृथक्-पृथक् विद्यालय भी चलाती हैं जो सार्वजनिक होते हैं। अन्यत्र ऐसे पण्डित नियुक्त किये जाते हैं जो आर्यसमाज भवन में ही छोटे-छोटे पैमाने पर अध्यापन कार्य करते हैं।

5. आर्यसमाज के मुख्य सिद्धान्त एवं मान्यतायें

आर्यसमाज की स्थापना अविद्या के नाश और विद्या की वृद्धि के लिए हुई। यह सार्वभौम धर्म का मार्ग है। 'धर्म' शब्द का प्रयोग 'मानव धर्म' के लिए तो होता ही है, 100-150 वर्षों से 'सम्प्रदाय' अर्थ में भी हो रहा है। इन दोनों अर्थों में से आर्यसमाज का मार्ग मानव धर्म का मार्ग है। अतः उन्होंने अपने साहित्य में वैदिक साहित्य को प्राथमिकता दी है।

(1) वैदिक साहित्य–

वेद आर्यसमाज की आत्मा है। गिन्नीज़ बुक ऑफ वर्ल्ड रिकॉर्ड के अनुसार वेद संसार के पुस्तकालय में प्राचीनतम एव श्रेष्ठतम ग्रंथ है। अतः आर्यसमाज केवल वैदिक साहित्य को ही मान्यता प्रदान करता है। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत निम्नलिखित मुख्य ग्रंथ आते हैं–

1. चार वेद (ईश्वरकृत)–
   ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद
2. चार उपवेद (वेदानुकूल ऋषिकृत मान्य हैं)–
   (1) ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद (चिकित्सा शास्त्र) है।
   (2) यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद (सेना विज्ञान) है।
   (3) सामवेद का उपवेद गांधर्ववेद (संगीत शास्त्र) है।
   (4) अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद (अर्थ शास्त्र) है।
3. ऋग्वेदीय ब्राह्मण–
   (1) ऐतरेय ब्राह्मण (मान्य ऋषिकृत)
   (2) कौषीतकि ब्राह्मण
   (3) शांखायन ब्राह्मण।

   शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण –
   (4) शतपथ ब्राह्मण (शतपथ ब्राह्मण मान्य ऋषिकृत)
   (5) काण्व शतपथ ब्राह्मण,

कृष्ण यजुर्वेदीय ब्राह्मण –

(6) तैत्तिरीय ब्राह्मण। (मान्य ऋषिकृत)

सामवेदीय ब्राह्मण –

(साम ब्राह्मण मान्य ऋषिकृत)

(7) ताण्डय ब्राह्मण, (8) षड्विद्या ब्राह्मण, (9) मंत्र ब्राह्मण (छान्दोग्य ब्राह्मण), (10) दैवत अथवा देवताध्याय ब्राह्मण, (11) आर्षेय ब्राह्मण, (12) सामविधान ब्राह्मण, (13) संहितोपनिषद् ब्राह्मण, (14) वंश ब्राह्मण, (15) जैमिनीय ब्राह्मण, (16) जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण।

अथर्ववेदीय ब्राह्मण –

(17) गोपथ ब्राह्मण (मान्य ऋषिकृत)

इनमें भी जो वेद विरुद्ध हो उसको छोड़ देना। क्योंकि वेद ईश्वरकृत होने से निर्भ्रान्त, स्वतः प्रमाण अर्थात् वेद का प्रमाण वेद ही होता है। ब्राह्मणादि सब ग्रंथ परतः प्रमाण अर्थात् इनका प्रमाण वेदाधीन है।

4. ऋग्वेदीय आरण्यक–

(1) ऐतरेय ब्राह्मण

(2) कौषीतकि ब्राह्मण

(3) शांखायन ब्राह्मण।

यजुर्वेदीय आरण्यक–

(4) बृहदारण्यक (माध्यान्दिन)

(5) बृहदारण्यक (काण्व),

(6) तैत्तिरीयारण्यक

(7) मैत्रायणीय आरण्यक

सामवेदीय आरण्यक–

(8) सामवेदीय आरण्यक ।

5. उपनिषद्–

आदिशंकराचार्य एवं महर्षि दयानंद ने 11 उपनिषदों को ही आर्ष अथवा वैदिक माना है और आर्यसमाज भी निम्नलिखित 11 उपनिषदों को ही मानता है ।

(1) ऋग्वेद – ऐतरेय, तैत्तिरीय

(2) यजुर्वेद – ईश, कठ एवं बृहदारण्यक

(3) सामवेद – केन और छान्दोग्य

(4) अथर्ववेद– मुण्डक, माण्डूक्य एवं प्रश्न

(5) श्वेताश्वतरोपनिषद्

6. कल्पसूत्र – (1) श्रोत सूत्र, (2) गृह्य सूत्र, (3) धर्म सूत्र

7. वेदांग (शास्त्र)–

(1) शिक्षा, (2) कल्प, (3) व्याकरण, (4) निरुक्त, (5) छंद, (6) ज्योतिष (केवल गणित ज्योतिष ही वेदानुकूल है और यही आर्यसमाज को मान्य है, न कि फलित ज्योतिष) ।

8. उपांग (दर्शन या शास्त्र) –

केवल 6 दर्शन ही आर्यसमाज को मान्य है जोकि निम्नलिखित हैं–

(1) योग दर्शन, (2) वैशेषिक दर्शन, (3) सांख्य दर्शन, (4) न्याय दर्शन, (5) वेदांत दर्शन, (6) मीमांसा दर्शन ।

9. सत्यार्थप्रकाश

10. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

11. संस्कारविधि

12. इसके अतिरिक्त मनुस्मृति, महाभारत, गीता आदि आंशिक रूप से आर्ष ग्रंथ है । अतः जो इन ग्रंथों का भाग वेदानुकूल है वे

आर्यसमाज को मान्य हैं और इन ग्रंथों का जो भाग वेदानुकूल नहीं है वे आर्यसमाज को मान्य नहीं है ।

परन्तु 18 पुराण, रामचरितमानस, बाइबल, क़ुरान आदि वेदानुकूल न होने के कारण आर्यसमाज को मान्य नहीं है । इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि हमें इन ग्रंथों का स्वाध्याय नहीं करना चाहिये । हमें इन अनार्ष ग्रंथों का वैदिक साहित्य से तुलनात्मक अध्ययन करके जो इन ग्रंथों में वेदानुकूल एवं जीवनोपयोगी बातें हैं अपने जीवन में अपनाकर उनसे लाभ उठाना चाहिये । ऐसा नहीं है कि इनमें सब बातें असत्य हैं, इनमें कुछ सत्य बातें भी हैं । सत्य-असत्य का निर्णय बुद्धि से ही होता है । बिना विचारे कोई कार्य न करें ।

(2) सोलह संस्कार

संस्कारों का जीवन में अत्यधिक महत्व है । इसका शाब्दिक अर्थ है किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति के गुण कर्म और स्वभाव में परिवर्तन करके उसे अत्यधिक उपयोगी बनाना । जैसे दांती और आरी को जब हम तेज करते हैं तो दांती ढेरों घास काट देती है और आरी भी ढेरों लकड़ी काट देती है । इस प्रकार इनके गुणों की क्षमता बढ़ जाती है । महर्षि दयानंद ने 'सत्यार्थप्रकाश' में संस्कार की परिभाषा करते हुए लिखा है–

संस्कार उसको कहते हैं जिससे शरीर, मन और आत्मा उत्तम हो ।

संस्कार कोई कर्मकाण्ड नहीं है कि किसी भी पंडित को घर में बुलाकर हवन करना और दक्षिणा देकर समाप्त कर देना है । संस्कार का कर्मकाण्ड से कोई संबंध नहीं है । संस्कार का अर्थ है कि बच्चों में ऐसे गुण भरना जिससे उनका आचरण और व्यवहार जीवन भर सब को सुख देने वाला हो । न केवल अपने ही घर में अपितु वह अपने घर से निकलकर दूसरे स्थान या घर में भी चले जाए, तब भी उनका आचरण और व्यवहार दूसरों को सुख देने वाला हो । संस्कार निम्नलिखित पाँच प्रकार के होते हैं–

(1) आत्मा के मूल संस्कार, (2) पूर्वजन्म के संस्कार, (3) माता-पिता के संस्कार, (4) सत्संग के संस्कार, (5) अपनी आत्मा की सृदृढ़ता के संस्कार ।

आर्यसमाज निम्नलिखित 16 संस्कारों को मानता है जिनका वर्णन महर्षि दयानंद ने संस्कार विधि में किया है–

(1) गर्भाधान संस्कार, (2) पुंसवन संस्कार, (3) सीमान्तोन्नयन संस्कार, (4) जातकर्म संस्कार, (5) नामकरण संस्कार, (6) निष्कर्मणसंस्कार, (7) अन्नप्राशन संस्कार, (8) चूड़ाकर्म (मुण्डन) संस्कार, (9) कर्णवेध संस्कार, (10) उपनयन संस्कार, (11) वेदारम्भ संस्कार, (12) समावर्तन संस्कार, (13) विवाह संस्कार, (14) वानप्रस्थ संस्कार, (15) संन्यास संस्कार, (16) अन्त्येष्टि संस्कार।

वस्तुतः संस्कारों के बिना मानव मानव नहीं बन सकता। यह सर्वविदित है कि संखिया जैसे विष को भी संस्कारों की भावना देकर अमृत तुल्य बना दिया जाता है। जंगली खूंखार शेर को संस्कारों की भावना देकर बकरी के साथ घाट पर पानी पिलाया जा सकता है। परन्तु आजकल मुख्यतः तीन संस्कार ही रह गये हैं–(1) नामकरण संस्कार, (2) विवाह संस्कार, (3) अन्त्येष्टि संस्कार। प्रायः यह देखने में आता है कि माता-पिता अपने बच्चों को सुख-सुविधायें तो देते हैं परन्तु संस्कार व समय नहीं दे पाते हैं। यदि माता-पिता व शिक्षक अपने-अपने बच्चों व विद्यार्थियों को संस्कार व समय दें तभी बच्चे संस्कारवान बनकर मानवता की सेवा कर सकेंगे। जैसे स्वामी विवेकानंद लिखते हैं–

बच्चों पर निवेश करने की सबसे अच्छी चीज है अपना समय और अच्छे संस्कार। एक श्रेष्ठ बालक का निर्माण सौ विद्यालयों के बनाने से बेहतर है।

3. त्रैतवाद–

भारतीय संस्कृति में तीन का विशेष महत्व है। हम संसार में जहाँ भी देखते हैं हमें तीन ही दिखाई देते हैं। वस्तुतः तीन के बिना कोई भी कार्य पूर्ण नहीं होता। पूर्ण हो ही नहीं सकता क्योंकि तीन पूर्णता का द्योतक है। जैसे कोई व्यक्ति बाज़ार से किसी वस्तु को लेने गया वहाँ भी हमें तीन की संस्कृति दिखाई देंगी। जैसे दुकानदार, ग्राहक और वस्तु। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी स्कूल में गया, वहाँ भी तीन ही दिखाई देंगे जैसे अध्यापक, छात्र

और अध्ययन का विषय। हम ऐसे ही सभी स्थानों पर घटा सकते हैं। इन तीनों में से किसी एक चीज को निकाल दीजिए तो क्या बाज़ार चलेगा। एक जगह दुकानदार नहीं है, दूसरी जगह ग्राहक नहीं है, तीसरी जगह सामान नहीं है तो बाज़ार कभी भी नहीं चलेगा। वह खुला हुआ भी बंद रहेगा क्योंकि बाज़ार को चलाने के लिये तीन चीजों की आवश्यकता है—1. दुकानदार, 2. ग्राहक और 3. सामान। तभी बाज़ार चलेगा। इसी प्रकार संसार को चलाने के लिये भी तीन वस्तुओं की आवश्यकता है वे है—जगदीश, जीव और जगत्। अतः त्रैतवाद के अनुसार तीन अनादि सत्ताएं है जिनका कभी भी विनाश नहीं होता है।

वे हैं—परमात्मा, आत्मा और प्रकृति। इन तीनों में परमात्मा आनंदस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, अजन्मा, अनंत, अनादि सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, अमर, अभय, पवित्र, सर्वेश्वर, सृष्टिकर्ता आदि गुणों से ओतप्रोत है। उसकी कोई भी मूर्ति नहीं है। इसके विपरीत जीवात्मा नित्य, अजन्मा, परिच्छिन, अणु कर्मों का फल भोगने वाला, चेतन आदि अनेक गुणों के ओतप्रोत है। तीसरा तत्त्व प्रकृति है यह सम्पूर्ण कार्य जगत् का मूल उपादान कारण है परन्तु इसका उपादान कारण कोई नहीं है। यह त्रिगुणात्मिका है, यह प्रलयावस्था में भी रहती है। यह प्रभु से शासित है और जीवात्मा के भोग का साधन है। परमात्मा व आत्मा चेतन सत्ताएँ हैं परन्तु प्रकृति जड़ है। ये तीनों सत्ताएँ पृथक्-पृथक् हैं और प्रलयावस्था एवं सृजनावस्था में एकत्र रहते हैं। इन सत्ताओं को अज, अज और अजा, प्रेरक, भोक्ता और भोग्य नामों से भी पुकारा गया है। कुछ त्रैतवादी विद्वानों ने त्रैतवाद के विषय निम्नलिखित परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं—

1. **ईश्वर, जीव और जगत् का कारण ये तीन अनादि हैं। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप तीनों अनादि हैं।**

—महर्षिदयानंद (सत्यार्थप्रकाश सम्मुलास 8)

2. **ईश्वर, जीव और प्रकृति अपनी-अपनी सत्ता के लिए किसी के भी मुहताज नहीं है। इसीलिये ये अनादि तथा नित्य पदार्थ हैं।**

पं. लेखराम (कलियात आर्य मुसाफिरब्राह्मणग्रंथ पृ. 382)

ईश्वर और प्रकृति में सबसे अधिक अटूट सम्बन्ध यह है कि ये दोनों ही जगत् रूप कार्य के कारण हैं। इनमें ईश्वर इस कार्य का निमित्त कारण है जबकि प्रकृति उपादान कारण है अर्थात् यदि ईश्वर न बनाये तो कुछ भी नहीं बन सकता क्योंकि उसी के बनाने से बनता है किन्तु वह स्वयं जगत् रूप में परिणत नहीं होता वरन् प्रकृति को विकृत या रूपान्तरित करता है। इसीलिए उसे निमित्त कारण कहा है। इसी प्रकार यदि प्रकृति न हो तो जगत् भी नहीं हो सकता क्योंकि प्रकृति के रूपान्तरित होने से ही सब जगत् बनता और बिगड़ता है इसीलिए प्रकृति को जगत् का उपादान कारण कहा गया है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि प्रकृति को उपादान कारण कहने का और ईश्वर को निमित्त कारण कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि उपादान कारण व निमित्त कारण अलग हैं अर्थात् गुण विशेषण है और प्रकृति व ईश्वर विशेष्य हैं वरन् यहाँ प्रकृति, उपादान और मूल कारण ये पर्याय हैं। इसी प्रकार ईश्वर, निमित्त कारण भी पर्याय हैं। इसी कारण प्रकृति को वैदिक वाङ्मय में अजा, त्रिगुणात्मिका मूल आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है। अन्यथा यदि प्रकृति और ईश्वर को उपादान और निमित्त कारण माना जाए और इन दोनों के संयुक्त होने से जगत् रूप कार्य की उत्पत्ति मानी जाए तो फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इन दोनों के परस्पर एक कार्य से सम्बन्ध स्थापित होने का क्या कारण है अर्थात् क्या प्रकृति स्वयं अपने आपको ईश्वर के समक्ष प्रस्तुत करती है कि मुझे विकृत करो या फिर ईश्वर ही प्रकृति को प्रेरित करता है? यदि प्रकृति स्वयं ही प्रस्तुत होती है तो क्यों होती है?

इस प्रश्न का एक ही उत्तर है और वह यह है कि प्रकृति का स्वभाव है विकार को प्राप्त होना किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि वह स्वयं विकार को प्राप्त नहीं होती और न ही स्वयं ईश्वर के समक्ष उपस्थित होती है वरन् वह ईश्वरीय ईक्षण या प्रेरणा से विकार को प्राप्त होती है और क्योंकि प्रकृति व ईश्वर में आधार-आधेय सम्बन्ध होता है जो कि नित्य है इसलिए प्रकृति को ईश्वर के समक्ष प्रस्तुत होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इसके अतिरिक्त

ईश्वर सर्वव्यापक सत्ता है, जिस कारण वह प्रकृति में भी ओत-प्रोत है फिर प्रस्तुत होना या न होना दोनों ही मत सारहीन है। रहा यह प्रश्न कि ईश्वर सर्वव्यापक क्यों है? और प्रकृति उसकी प्रेरणा से कार्यरूप में क्यों परिणत होती है? ये ऐसे प्रश्न है जो अति के प्रश्न हैं अर्थात् ये प्रश्न स्वयं की सीमा को पार कर जाते हैं क्योंकि प्रश्न का आशय होता है सत्य को जानना और सत्य वह होता है जिस पर प्रश्नचिन्ह लगाना मूढ़ता का द्योतक होता है। जैसे–सत्य को जानने के लिए प्रश्न किया और उस प्रश्न के उत्तर के रूप में सत्य का ज्ञान हो गया अब यदि उस पर भी प्रश्न करें कि यह सत्य क्यों है? तब इस प्रश्न को करने का अर्थ है अपनी मूढ़ता का परिचय देना। अतः निष्कर्ष रूप में ईश्वर और प्रकृति दोनों सत् हैं और दोनों ही जगत् रूप कार्य के दो पृथक् एवं स्वतंत्र कारण हैं।

हम देखते हैं कि ईश्वर ने यह जगत् जीवात्मा के भोगार्थ बनाया है अतः जीवात्मा और जगत् में भोग्य और भोक्ता का संबंध है अर्थात् जगत् भोग्य है और जीवात्मा इसका भोक्ता है। अब इस विषय को स्पष्ट रूप में समझने के लिये यह समझना भी आवश्यक है कि जीवात्मा और परमात्मा में क्या सम्बन्ध है? यह जानना इसलिए आवश्यक है क्योंकि विद्वानों का एक बड़ा वर्ग जीवात्मा और परमात्मा में अभेद मानता है। इस विचार को स्वीकार करने वालों का यह कहना है कि जीवात्मा की कोई पृथक् स्वतंत्र सत्ता नहीं है वरन् यह तो ईश्वर का ही अंश है इसलिए इनमें अभेद है। वस्तुतः उक्त विचारधारा के मूल प्रतिपादक आदि शंकराचार्य रहे हैं जिन्होंने उपनिषद् ग्रन्थों के आधार पर इस विचारधारा को प्रचारित किया। अतः सर्वप्रथम ईश्वर और जीवात्मा के सम्बन्ध में उपनिषदों का अवलोकन करना ही उचित होगा। मुण्डक उपनिषद् में लिखा है–

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।।

(मुण्डकोपनिषद् 3.1-2)

एक ही मूल रूप अनादि कारण और कार्ययुक्त शाखारूप वृक्ष में जीवात्मा और परमात्मा विद्यमान हैं जिनमें जीव अहंकार से सम्बन्ध उत्पन्न

करके राग, द्वेष के चक्कर में बंधा हुआ दुःखों की जंजीर से छूटने के अयोग्य स्वीकार करते हुए मोहग्रसित विचार करता है (कि मेरी संतान मर गई, मेरी हानि हो गई आदि)। किन्तु जब ज्ञान से अथवा योगियों के संग से शोक से रहित तथा सर्वशक्तिमान अपने से पृथक् दूसरे (परमात्मा) को जानता व उसके बनाये जगत् में उसकी महिमा को देखता है तब वह सम्पूर्ण दुःखों से छूट जाता है।

हम देखते हैं कि हमें वेदों, उपनिषदों, दर्शनों, मनुस्मृति, पुराणों आदि में त्रैतवाद के दर्शन होते हैं। जैसे वेदों में कुछ ऐसे मंत्र भी है जहाँ एकत्र ही परमात्मा, आत्मा एवं प्रकृति की सत्ता दिखाई देती है जैसे–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरण्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति। –ऋ. 1.164.20

इस मंत्र का भाव स्पष्ट करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं–जीव, परमात्मा और जगत् का कारण, ये तीन पदार्थ अनादि और नित्य हैं। जीव और परमात्मा यथाक्रम अल्प, अनन्त, चेतन, विज्ञानवान्, सदा विलक्षण, व्याप्य व्यापक भाव से संयुक्त और मित्र के समान वर्तमान हैं। वैसे ही जिस अव्यक्त परमाणुरूप कारण से कार्यरूप जगत् होता है वह भी नित्य और अनित्य है। समस्त जीव पाप पुण्यात्मक कार्यों को करके उनके फलों को भोगते हैं और ईश्वर एक सब ओर से व्याप्त होता हुआ न्याय से पाप पुण्य के फलों को देने से न्यायाधीश के समान देखता है। राहुल सांकृत्यायन, श्री नारायण स्वामी, डा. हरिदत्त आदि विद्वानों ने भी इस ऋचा का यही अर्थ स्वीकार किया है। आचार्य यास्क ने 'सुपर्णा' का अर्थ आत्मा और परमात्मा किया है तथा वृक्ष का अर्थ शरीर किया है। सायण ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है।

विद्वानों में 'सुपर्णा' के अर्थ में मतभेद नहीं है, परन्तु 'वृक्ष' के अर्थ में उनका मतैक्य नहीं है। कुछ भी हो इस ऋचा में 'वृक्ष' तत्त्व ईश्वर और जीव से भिन्न रूप में ही निर्दिष्ट है। वृक्ष का अर्थ शरीर करना उतना अच्छा नहीं जितना कि प्रकृति अर्थ करना। क्योंकि शरीर तो एक साधन है। जीवात्मा अपने शरीर के द्वारा ही प्रकृति का भोग करता है, अर्थात् प्रकृति के फलों को चखता है परन्तु परमेश्वर प्रकृति का भोक्ता नहीं केवल जीवात्मा को भोगते हुए

देखता है । इस ऋचा में तीन तत्त्वों का निर्देश स्पष्ट है । वेद के निम्नलिखित मंत्र में भी त्रैतवाद के दर्शन होते हैं–

बालादेकमणीयस्कम् उतैकं नेव दृश्यते ।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ।। अथर्ववेद 10.8.25

इस मंत्र के प्रथम वाक्य में कहा है कि यह तत्त्व बाल से भी अधिक सूक्ष्म है । यह जीवात्मा है । श्वेताश्वरोपनिषद् में इस वाक्य की स्पष्ट व्याख्या करते हुए लिखा है–

बालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः ।। –श्वेताश्वेतरोपनिषद् 5.9

बाल के अगले हिस्से के सौ भाग किये जावें फिर उनमें से एक-एक के सौ भाग किये जाये उतना भाग जीवात्मा के स्वरूप का है ।

वेदों में त्रैतवाद के विषय में नारायण स्वामी लिखते हैं :–

पहला मन्तव्य वेदों का त्रित्ववाद है, अर्थात् वेद ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति की नित्यता का प्रतिपादन करते हैं ।

डा. श्रीराम लिखते हैं–

वेद ने भी ईश्वर, जीव और प्रकृति को अनादि स्वीकार किया है ।

–ईश्वरसिद्धि पृ. 78

वेद में अद्वैतवाद का प्रतिपादन करने वाले आचार्य सायण के विषय में प्रो. दामोदर लिखते हैं 'सायण पूर्णरूप से अद्वैतवादी सिद्धान्त को मानते थे क्योंकि विजयनगर साम्राज्य के संस्थापक हरिहर, बुक्क शृंगेरीपीठ के प्रबल समर्थक एवं आश्रयदाता थे । इस शृंगेरी मठ के विशेष विद्वान् विद्यातीर्थ भारती तीर्थ तथा श्रीकण्ठाचार्य सायण के गुरु थे । इन सभी कारणों से सायण वेद भाष्य में अद्वैतवाद के पक्षाग्रह से ग्रसित रहे हैं ।

वस्तुतः ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों का स्वरूप तथा परस्पर भेद, और अनादित्व वेद में वर्णित है । अतः त्रैतवाद का उद्भव भी निश्चित् रूप से

वेदों से ही माना जायेगा । दर्शन के उद्‌भव और विकास पर प्रकाश डालते हुए डा. नरेन्द्रदेव और डा. हरिदत्त शास्त्री ने लिखा है–

प्राचीन ऋग्वेदकाल से ही दर्शनों के मूल तत्वों के विषय में कुछ न कुछ संकेत हमारे साहित्य में मिलते हैं । बीज से उठते हुए अंकुरों के समान आगे चलकर ये दार्शनिक विचारधारायें क्रमशः विकसित होती गई । वेद, ब्राह्मण, आरण्यक में क्रमशः विकास पाते हुए ये विचार उपनिषदों में पल्लवित हुए और वहाँ से अपने-अपने उपजीवी अंशों को लेकर विविध नामरूपों से प्रवाहित हुए ।

–भारतीय दर्शन का इतिहास पृ. 24

इसी प्रकार पुराणों में श्रीमद्‌भगवत पुराण में त्रैतवाद के दर्शन होते हैं । जैसे पुराण में परमात्मा को जगत् का कर्ता बतलाते हुए उसे पृथ्वी आदि पांच तत्त्वों और जीवात्मा का आधार भी बतलाया है । सात तत्त्व मानने वालों के मत की व्याख्या करते हुए लिखा है, सात ही तत्त्व हैं । इसका अर्थ है पांच आकाशादि छठा जीवात्मा और इन दोनों का आधार परमात्मा सातवां उन पाँच तत्त्वों से देह, इन्द्रिय और प्राण बनते हैं । जीवात्मा के लिए इस पुराण में 'पुमान्' शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर हुआ है । एक स्थान पर श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं–पूर्वजों के द्वारा निश्चित् किये गये उस सांख्य का वर्णन करूँगा जिसे जान कर पुमान् (जीवात्मा) भ्रम को छोड़ देवें । जीवात्मा को अमर बतलाते हुए कहा है–यह जीवात्मा अपने कर्मों से न जन्म लेता है न मरता है यह सब भ्रान्तिवश व्यवहार है । जीवात्मा अमर है–लकड़ी के संयोग से जैसे अग्नि जन्म लेती हुई और समाप्त होती हुई प्रतीत होती है उसी प्रकार जीवात्मा शरीर के साथ जन्मता और मरता प्रतीत होता है । प्रकृति को त्रिगुणात्मिका बतलाते हुए इस पुराण में कहा है–सत्व, रज और तम ये प्रकृति के गुण हैं । प्रकृति को कारण और कार्यरूपा भी बतलाया गया है तथा एक स्थान पर गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहा है । तीनों तत्त्वों के एकत्र वर्णन से इस पुराण में त्रैतवाद की पुष्टि हुई है । एक स्थान पर कहा है

'प्रकृति' इस जगत् का उपादान कारण है। इससे पृथक् पुरुष (जीवात्मा) है। इस कार्य जगत् को उत्पन्न करने वाला काल ब्रह्म नामक परमेश्वर है। ये तीन (तत्त्व) हैं। यहाँ त्रितयम् शब्द का स्पष्ट प्रयोग ईश्वर जीवात्मा और प्रकृति के लिए हुआ है।

सांख्य के तत्त्वों के विषय में पूछते हुए उद्धव श्रीकृष्ण से कहते हैं—जो लोग 26 तत्त्व स्वीकार करते हैं वे ऐसा कहते हैं—जीव अनादिकाल से अविद्या से ग्रस्त होता आया है। अतः उसे आत्मज्ञान स्वतः न होने से उसे आत्मज्ञान कराने के लिए तत्त्वों को जानने वाले (सर्वज्ञ परमेश्वर) की आवश्यकता होती है वह उसे ज्ञान देता है। 26 तत्त्वों के विषय में जो प्रश्न उद्धव ने किया है उसके उत्तर में इस श्लोक में 26 तत्त्व श्रीकृष्ण ने इस प्रकार गिनाए हैं—कारण कार्यरूप प्रकृति के 24 तत्व, 25 जीवात्मा और 26वाँ ईश्वर इस प्रकार 26 तत्त्व स्वीकार करना चाहिए। ये तत्त्व सांख्यानुसार वर्णित किये गये हैं। सांख्य को मानने वाले भी प्रकृति के 24 तत्व तथा पुरुष अर्थात् जीवात्मा और परमेश्वर ये दो तत्व कुल मिलाकर 26 तत्वों का समावेश मानते हैं। इस सांख्य के मत को देकर इस प्रकरण के अन्त में कहा है—

ऋषियों ने इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार से तत्त्वों की गणना की है। सब का कहना उचित ही है।

इस कथन से प्रतीत होता है कि सांख्य के 26 तत्त्वों का अस्तित्व भी इस ग्रंथ में स्वीकार कर लिया गया है। ये 26 तत्त्व ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति इन तीनों से ही संबंधित है। अतः यहाँ त्रैतवाद की विद्यमानता है। तीनों तत्त्वों का एकत्र वर्णन करते हुए एक श्लोक में कहा है—सत्व, रज और तम ये प्रकृति के गुण है। इस प्रकृति को जीवात्मा के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार परमेश्वर ने क्षुब्ध (प्रेरित) किया। ऐसा वर्णन अन्य पुराणों में भी आया है जिनमें यह बतलाया गया है कि प्रलयावस्था से सृजन की अवस्था में वह परमेश्वर प्रकृति और पुरुष को व्यापक रूप से क्षोभित करता है।

ऋग्वेद का त्रैतवाद समर्थक प्रसिद्ध मंत्र भागवत् में भी थोड़े से परिवर्तन के साथ लिखा हुआ है। जिसमें ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों का उल्लेख है। इस प्रकार के प्रकरण ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति इन तीनों को अनादि सिद्ध करते हैं। इन तीनों के अनादित्व से इस पुराण में भी त्रैतवाद की सिद्धि है।

अतः पुराणों में परमेश्वर को सर्वोपरि सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। वह एक है। प्रलयकाल में सम्पूर्ण जड़ और चेतन जगत् उसी में रहता है। सृष्टि निर्माण के समय वही प्रकृति में गति उत्पन्न करता है, अतः जगत् का वह निमित्त कारण है। प्रकृति और जीवात्मा में भी वह व्यापक बनकर रहता है। वह नित्य और अनादि है।

पुराणों में जीवात्मा का अस्तित्व प्रलयावस्था में भी स्वीकारा गया है। अतः यह एक अनादि तत्त्व है। प्रकृति का यह भोक्ता है। कर्मों का स्वतंत्र कर्ता तथा तदनुसार फल पाने वाला है। यह परमेश्वर के शासन में रहता है। पुराणों में प्रकृति को त्रिगुणात्मिका माना है यह प्रकृति कार्य जगत् का उपादान कारण है। यह परिणामी तत्व है। कारण रूप से यह कार्यरूप में रूपांतरित होती रहती है। प्रलयावस्था में इसका सर्वथा अभाव नहीं होता अतः यह नित्य है। यह स्वयं सृजन में समर्थ नहीं है, परमेश्वर इसको सर्गकाल में प्रेरित करता है। अधिकतर पुराणों में परमात्मा, आत्मा और प्रकृति इन तीनों का स्वतंत्र अस्तित्व है। पुराणों की दृष्टि में ये तीनों परस्पर विलक्षण तथा नित्य सत्ताएं हैं। पुराणों में सांख्य और योग के तत्वों को भी स्वीकार किया गया है। अतः त्रैतवाद दर्शन की सत्ता पुराणों में व्यापक रूप से विद्यमान है।

इसके विपरीत कुछ पौराणिक भाइयों का विचार है कि आत्मा परमात्मा का अंश है जैसे तुलसीदास ''रामचरितमानस'' में लिखते हैं–

ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।।
सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाई।।

–उत्तरकांड 116 (ख) 1.2

आत्मा परमात्मा का अंश है और यह आत्मा अविनाशी चेतन, स्वाभाविक, निर्मल एवं सुखराशि है। परन्तु यह तोते और बंदर की भाँति स्वयं मोहमाया के जाल में बंधी हुई है। इसी प्रकार जगद्गुरु कुपालु जी महाराज लिखते हैं–

ब्रह्म या आनंद के ही अंश हैं सब प्यारे।
चाहत सब आनंद पाते जब सब ही प्यारे।।

वस्तुतः अंश (आत्मा) अपने अंशी (परमात्मा) का दास होता है। अतः उसकी ओर भागता है जैसे एक मिट्टी के ढेले को उठाकर आप हाथ से फैंको तो वह पृथ्वी पर ही गिरेगा क्योंकि वह पृथ्वी का अंश है।

परन्तु वैदिक सिद्धांत के अनुसार आत्मा, परमात्मा एवं प्रकृति तीनों अनादि एवं स्वतंत्र सत्ताएं है। इसे ही त्रैतवाद के नाम से पुकारा जाता है। परन्तु कुछ विद्वानों ने आत्मा को परमात्मा का अंश इसलिये कह दिया क्योंकि दोनों ही अनादि एवं चेतन है। आत्मा अल्पज्ञ और परमात्मा सर्वज्ञ है। अतः वह परमात्मा का अंश न होकर एक अनादि सत्ता हैं अतः वैदिक सिद्धांत ही सर्वमान्य है न कि पौराणिक भाइयों का सिद्धांत।

4. पुनर्जन्म–

वैदिक सिद्धान्तों में पुनर्जन्मादि कुछ ऐसे गूढ दार्शनिक सिद्धान्त हैं जिन पर मत मतान्तरवादी जन समय-समय पर असहमति प्रकट करते रहे हैं और हमारे विद्वानों द्वारा इनका युक्तियुक्त उत्तर दिया जाता रहा है। परन्तु कहा गया है **लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तु सिद्धिः लक्षण** और प्रमाणों से वस्तु की सिद्धि होती है अगर हम शास्त्रों की गहन खोज करते हैं और तर्क की कसौटी में कसते हैं तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि पुनर्जन्म की व्यवस्था है अगर इसे स्वीकार नहीं करेंगे तो बहुत सी परेशानियाँ पैदा हो जायेंगी जैसे कोई जीव निर्धन के यहाँ, कोई धनवान के यहाँ, कोई जीव पशु योनी में, कोई मनुष्य योनी में, कोई सुखी, कोई दुःखी हो रहा है ये कैसे होता है, तो पता चला कि ये कर्मव्यवस्था

के आधार पर है। अगर ये पहली बार जन्म हुआ है तो कर्म कब किये और कर्म नहीं किये तो ये फल किसका मिल रहा है। इस प्रकार ये सारी कर्म की व्यवस्था अस्तव्यस्त हो जायेगी। इसलिये पुनर्जन्म की व्यवस्था हमें स्वीकार करनी ही पड़ेगी।

जन्म और मृत्यु के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जन्म और मृत्यु प्रवाह से अनादि हैं अर्थात् जीवात्मा पुनः जन्म लेता है जिसे पुनर्जन्म कहते हैं। किन्तु वर्तमान में कुछ मत और कुछ विचारक ऐसे भी हैं जो पुनर्जन्म को नहीं मानते और यह मानते हैं कि जीव का वर्तमान जीवन ही प्रथम और अन्तिम जन्म है अर्थात् न तो इस जन्म से पहले कोई जन्म था और न इस शरीर से छूटने के बाद कोई जन्म होगा। इसप्रकार की मान्यताओं का अग्रणी चार्वाक मत है जो कि जीव की किसी पृथक् स्वतन्त्र सत्ता को ही नहीं मानता और यह कहता है कि **भस्मीभूतस्यदेहस्यपुनरागमनंकुतः** इस शरीर के नष्ट होने पर किसे आना है?अर्थात् इसके बाद कोई जन्म नहीं होता है। इस मान्यता का खण्डन तो चेतन-जड़ की पृथक् सत्ता की सिद्धि से पूर्व ही कर दिया गया है कि वहाँ जो शरीर को ही आत्मा मान लिया गया है वही गलत है। इसलिए इस मान्यता का आधार ही गलत होने से आगे कुछ कहना ही संगत प्रतीत नहीं होता।

हम देखते हैं कि कुछ मत ऐसे हैं जो चेतन जीव को शरीर से भिन्न मानते हैं और ईश्वर को भी मानते हैं। किन्तु जीव का केवल वर्तमान जन्म ही मानते हैं। और इससे भिन्न पूर्व या पश्चात् का जन्म नहीं मानते। ऐसे मतों में क़ुरान और बाइबल प्रमुख है। अतः इन मान्यताओं पर विचार करना आवश्यक है।

पुनर्जन्म न मानने पर आपत्तियाँ–

यदि क़ुरान और बाइबल की मान्यताओं को स्वीकार किया जाये तो इन मान्यताओं के मानने पर निम्नलिखित आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं–

1. यदि जीवात्मा का वर्तमान जन्म ही प्रथम और अन्तिम जन्म माना

जाये तो इसका अर्थ होगा कि जीवात्मा (रुह) को बनाया गया है क्योंकि यदि बनाया नहीं गया तो यह बताना आवश्यक है कि जन्म से पूर्व वह कहाँ था? इस प्रश्न का क़ुरान में कोई उत्तर नहीं है जिससे यह सिद्ध होता है कि उनके अनुसार जीवात्मा को उत्पन्न किया गया है और यदि ऐसा है तो जीवात्मा सादी है और जो जन्मा है उसका अन्त भी अवश्य है क्योंकि यही सनातन सर्वमान्य और सार्वलौकिक नियम है कि जो बना है वह एक दिन अवश्य बिगड़ेगा। अतः जीवात्मा की उत्पत्ति को मानने पर इसका विनाश भी मानना पड़ेगा और जब जीव का विनाश हो जाएगा तब जन्नत या दोजख में कौन जायेगा?

2. जीवात्मा का पुनर्जन्म न मानने पर दूसरी आपत्ति यह है कि एक ओर तो क़ुरान में ख़ुदा को रहीम अर्थात् न्यायकारी-दयालु कहा है और दूसरी ओर हम देखते हैं कि उसने किसी को अन्धा बनाकर जन्म दे दिया, किसी को अपंग बनाकर जन्म दे दिया और किसी को सब ऐश्वर्यों में जन्म दे दिया जबकि किसी को सब अभावों में जन्म दे दिया। इस प्रकार के संसार में दृष्टिगोचर होने वाले वैषम्य को देखकर और विभिन्न प्रकार की योनियों के वैषम्य को देखकर यह प्रश्न उभरना स्वाभाविक है कि यह सब वैषम्य क्यों है? यदि ईश्वर ने अपनी इच्छा से ये विभिन्नतायें बनाई और फिर भी वह न्यायकारी और दयालु है तो फिर अन्याय और पक्षपात क्या होगा?

इस आपत्ति का समाधान मात्र जीव के कर्मानुसार पुनर्जन्म को स्वीकार करने पर ही सम्भव है अर्थात् जीवात्मा के जैसे-जैसे पूर्वजन्मों में किए पुण्य-पाप रूप कर्मों के आधार पर ही ईश्वर जीव को विभिन्न योनियों और शरीरों को प्रदान करता है ऐसा मानने पर ही ईश्वर को न्यायकारी कहा जा सकता है अन्यथा अकारण किसी को सुख, किसी को दुःख देने वाला मानने से ईश्वर की न्यायकारिता समाप्त हो जायेगी और जो न्यायकारी नहीं उसको ईश्वर कहना ही व्यर्थ होगा।

3. पुनर्जन्म न मानने वाले ये मत मानते हैं कि जीव वर्तमान जन्म में ही जो पुण्य-पापकर्म करता है ईश्वर उन्हीं के आधार पर स्वर्ग या नरक देता है और इसके साथ ही यह मानते हैं कि जीव को जो जन्नत या दोजख मिलता है वह उसकी अन्तिम स्थिति होती है जिसका अभिप्राय है कि जिसे स्वर्ग मिल गया उसे सदैव के लिये ही मिल गया और जिसे नरक मिल गया वह भी सदैव के लिए मिल गया। अब इस मान्यता को मानने वालों से पूछना चाहिए कि मनुष्य पाप भी करता है और पुण्य भी करता है। इसका अर्थ हुआ कि जिसके पुण्य अधिक हुए उसके पाप सदा के लिए क्षमा हो गए और जिसने पाप कुछ अधिक कर दिए पुण्य कम किये उसके पुण्य सदा के लिए समाप्त हो गए क्योंकि जीवों का स्वर्ग और नरक से तो अवस्थान्तर होना नहीं है अन्यथा पुनर्जन्म न होने की मान्यता ही समाप्त हो जायेगी तो ऐसी व्यवस्था में 'अन्धेर नगरी चौपट राजा' वाली कहावत चरितार्थ हो जायेगी।

इस मान्यता पर दूसरी आपत्ति यह है कि जीव जो सीमित शक्ति वाला है उसके कर्म भी सीमित होंगे तब उन सीमित कर्मों का सदैव के लिए स्वर्ग-नरक रूप असीमित फल देना यह कहकर परमेश्वर पर अन्यायकारी होने का आरोप लगाना है जो कि अनुचित है क्योंकि सीमित कर्मों का सीमित फल देना इसी को न्याय कहते हैं और सीमित कर्मों का असीमित फल देना इसी को अन्याय कहते हैं। फिर जो जितना करे उसे उतना ही फल देना यथा-जितना पाप किया उसका उतना ही दुःख रूप फल और जितना पुण्य किया है उसका उतना ही सुख रूप फल देना न्याय है और इसके विपरीत अन्याय। किन्तु यह क्या कि किसी ने 100 में 49 पाप किये और 51 पुण्य तो उसके 49 पाप क्षमा और यदि 49 पुण्य किए और 51 पाप हो गए तो उसके पुण्य समाप्त क्योंकि उनका फल तो उन्हें पुनर्जन्म न मानने से मिलना ही नहीं है।

4. लोकाचार में यह देखा जाता है कि जब किसी अपराधी को

कारागार का दण्ड दिया जाता है तब उसके अपराध की प्रकृति को दृष्टिगत रखकर कम और अधिक समय का तथा कठोर और सरल रूप में दिया जाता है जैसे–आर्थिक अपराधी और एक हत्यारे के दण्ड का रूप भिन्न-भिन्न होता है और उन्हें अपराध का दण्ड भोगने के पश्चात् पुनः समाज में रहकर कर्म करने का अवसर दिया जाता है। किन्तु यहाँ क्या है कि 51 पुण्य करने वाला और 99 पुण्य करने वाला तथा एक भी पाप न करने वाला सब एक ही पंक्ति में खड़े हैं और इसी प्रकार 51 पाप करने वाला और 99 पाप करने वाला सब दूसरी पंक्ति में खड़े हैं जिनको किसी प्रकार से अवस्थान्तरित करना सम्भव नहीं क्योंकि अवस्थान्तर को ही पुनर्जन्म कहते हैं और पुनर्जन्म उन्हें स्वीकार नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि इस मान्यता को मानने वाले घोर अंधकार में भटक रहे हैं जो न परमेश्वर को जानते और न ही जीवात्मा के स्वरूप को जानते हैं।

5. पुनर्जन्म में विश्वास न करने वालों का एक यह कहना है कि ईश्वर अपने बन्दों को दुःख या कष्ट देता है वह उनके कर्मों के आधार पर नहीं देता वरन् वह कष्ट देकर अपने भक्तों की परीक्षा करता है। अब कोई इन भोले मनुष्यों से पूछे कि तुम अज्ञानतावश ईश्वर पर अल्पज्ञता का दोषारोपण क्यों करते हो? क्योंकि परीक्षा लेने की आवश्यकता उसे पड़ती है जो अल्पज्ञ एकदेशीय और परीक्षा से अनभिज्ञ होता है किन्तु ईश्वर तो सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक है फिर उसे परीक्षा लेने की क्या आवश्यकता है जो अन्तर्यामी होकर सब जानता है।

6. पुनर्जन्म न मानने में सबसे बड़ा दोष यह है कि फिर जगत् में नैतिक मूल्यों का कोई औचित्य नहीं रहता क्योंकि जीव जो अच्छे कर्म करता और बुरे कर्मों से डरता है उसके पीछे उसका यही विश्वास होता है कि उसके बुरे कर्मों का उसे आगामी जन्म के रूप में बुरा फल मिलेगा इसीलिए वह बुरे कर्म करने से बचता है और अच्छे शुभ कर्मों की ओर प्रवृत्त होता है। अन्यथा इस जन्म में यदि अच्छे कर्म करने पर उसे सुख न मिले और आगामी जन्म उसका

होना नहीं तो फिर वह शुभ कर्म क्यों करे ।

7. पुनर्जन्म न मानने वाले स्वर्ग और नरक में मिलने वाले जिन सुखों की बात कहते हैं वे सब सांसारिक हैं जिन्हें बिना शरीर के नहीं भोगा जा सकता जैसे–स्वर्ग में शराब की नदियाँ या दूध की नदियाँ बहती हैं, वहाँ अप्सरायें रहती हैं । इन सबको कहने का तात्पर्य है कि वे सब शरीरधारी और जड़पदार्थ हैं जिनका भोग शरीर द्वारा ही सम्भव है । अब यदि यह कहा जाये कि क़ब्र में पड़े मुर्दे पुनः जी उठते हैं तो यह पुनर्जन्म हो गया और यदि कहें कि केवल रुहें या जीव ही जन्नत में या दोजख में जाती हैं तब इनका भोग वे कैसे बिना शरीर के भोग सकती है ? क्योंकि शराब पीने या दूध पीने की और अप्सराओं के भोग की बात शरीर द्वारा ही सम्भव है । फिर ये सारे सुख संसार में रहकर भी मनुष्य भोग सकता है क्योंकि इनमें ऐसा कुछ भी नहीं जो इस भौतिक जगत् में उपलब्ध न हो । फिर स्वर्ग और नरक की अवधारणा ही गलत हो जाने से कोई इन सबको यहीं प्राप्त करने वाला व्यक्ति इनसे प्रलोभित क्यों होगा ?

8. पुनर्जन्म न मानने से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि जितने जीव मरने के पश्चात् स्वर्ग या नरक में चले जाते हैं उतने ही परमात्मा जगत् में उत्पन्न कर देता है अन्यथा जगत् नहीं चल सकता । ऐसा मानने पर स्वर्ग और नरक में अत्यधिक भीड़ हो जायेगी क्योंकि वहाँ केवल जाना ही लगा रहेगा आना कुछ भी नहीं होगा । दूसरे परमात्मा जिस कारण से जीव बनायेगा उसका सदैव व्यय होता रहेगा और उसमें आय कुछ भी न होगी जिससे वह जीव की उत्पत्ति का कारण रूप कोष कभी न कभी अवश्य समाप्त हो जायेगा तब जगत् का प्रयोजन कुछ भी न रहेगा जिसके परिणामस्वरूप जगत् ही अनित्य और पुनः उत्पन्न होने वाला नहीं रहेगा और दूसरे जगत् के अभाव में प्रभु भी निकम्मा हो जायेगा जो प्रभु के स्वरूप के विरुद्ध है । इसप्रकार पुनर्जन्म न मानने वाले मत अमान्य हैं क्योंकि पुनर्जन्म के पक्ष में जो युक्तियाँ

और प्रमाण उपलब्ध होते हैं उनका कोई विरोध नहीं कर सकता ।

पुनर्जन्म के पक्ष में युक्तियाँ और प्रमाण–

1. जीव का अनादि स्वरूप :– जन्म और मरण का सम्बन्ध जीवात्मा से होता है इसलिए सर्वप्रथम यही विचार करना उचित है कि जीवात्मा अनादि है । जीवात्मा चेतन स्वरूप होने से अनादि है क्योंकि आदि और अन्तवाला केवल कार्य होता है और कार्य में उसके कारण के गुण होते हैं । अतः यदि जीवात्मा को आदि और अन्तवाला कार्यरूप माना जाये तब इसका कारण क्या है जिसमें इसका चेतनता का गुण विद्यमान है? स्पष्ट है कि जीव का कारण प्रकृति जड़ होने से तथा उसमें चेतनता का अभाव होने से जीव का कारण नहीं हो सकती । प्रकृति के अतिरिक्त चेतन तत्त्व ब्रह्म है सो वह भी जीव का कारण हो सकती । अतः यही मान्यता सर्वमान्य है कि जीव न किसी का कार्य है और न किसी कार्य का उपादान कारण है वरन् वह अनादि है । जो अनादि और चेतन है वह कभी भी निष्क्रिय नहीं रह सकता क्योंकि निष्क्रियता और चेतनता दोनों विरोधी गुण है इसीलिए शास्त्रकारों ने ज्ञान और प्रयत्न दोनों जीवात्मा के स्वाभाविक लक्षण बताये हैं ।

इसी प्रयत्न गुण के कारण जीव कर्म करता है और कर्म वह होता है जिसका कोई परिणाम होता है इस रूप में जीव अपने शुभ अशुभ कर्मों के परिणामों को सुख व दुःख रूप में भोगता है । जीवात्मा जो कर्म करता है वे सब शरीर के माध्यम से ही करता है इसलिए उसका शरीर धारण करना स्वतः सिद्ध है और फिर एक शरीर में रहता हुआ जो कर्म करता है उन सबका फल वह उसी जन्म में नहीं भोग पाता इसलिए शेष बचे संचित कर्मों का भोग भोगने के लिए उसे दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है । इसी को पुनर्जन्म कहते हैं । इसी को न्यायदर्शन ने प्रेत्यभाव कहा है । जैसे :–

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः । न्यायदर्शन 1.1.19

आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभाव सिद्धि । न्यायदर्शन 4.1-10

मरकर फिर जन्म लेने को प्रेत्यभाव कहते हैं तथा आत्मा के नित्य होने

से प्रेत्यभाव की सिद्धि होती है । इसी प्रकार जीवात्मा का चेतन होना और कर्म करना उसके पुनर्जन्म को सिद्ध करता है ।

2. ईश्वर का न्यायकारी और दयालु होना :– पुनर्जन्म का सबसे प्रबल प्रमाण परमात्मा का न्यायकारी और दयालु होना है क्योंकि जिसने जैसा जितना बुरा कर्म किया उसे वैसा और उतना ही दण्ड देना और जिसने जैसा जितना अच्छा कर्म किया उसे वैसा और उतना ही पुरस्कार देना न्याय कहलाता है । इसी आधार पर जीवात्मा जैसा जितना पाप व पुण्य कर्मों को वर्तमान जीवन में करता है उसे वैसा ही शरीर और उतना ही सुख-दुःख रूप भोग अगले जन्म में परमेश्वर देता है यही न्याय है जोकि जीवात्मा के पुनर्जन्म द्वारा ही सम्भव है । अन्यथा जैसा कि लोक में देखते हैं कि वर्तमान जन्म में अनेक व्यक्ति जो दुराचार आदि बुरे कर्म करते हैं फिर भी सुख से रहते हैं और अनेक सदाचारी दुःखी देखे जाते हैं । तब यदि पुनर्जन्म न माने तो फिर बुरे व्यक्तियों को बुरा फल और अच्छे व्यक्तियों को अच्छा सुख रूप फल कैसे मिल सकेगा और फिर यह भी मानना पड़ेगा कि व्यक्ति को उसके बुरे कर्मों का सुख फल मिल रहा है और अच्छे व्यक्ति को अच्छे कर्मों का बुरा फल मिल रहा है तो परमेश्वर न्यायकारी ही नहीं है ।

ऐसा मानने के कारण ही वास्तव में समाज में दुराचार, अनाचार आदि बुरे कर्मों को बढ़ावा मिलता है और नैतिक मूल्य समाप्त होकर सम्पूर्ण समाज और सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है जिसको सब गलत मानते हैं । इसी प्रकार ईश्वर की दयालुता भी पुनर्जन्म को सिद्ध करती है क्योंकि जैसे समाज में किसी अपराधी को उसके अपराध का दण्ड उसके अपराध की प्रकृति को दृष्टिगत रखकर दिया जाता है जिसके दो उद्देश्य होते हैं एक तो अन्य अपराध करने पर रोक लगाना तथा दूसरे उससे होने वाले कष्टों से दूसरों को बचाना । ठीक इसी प्रकार ईश्वर भी पाप रूप कर्मों का दुःख रूप फल उनकी प्रकृति के आधार पर उतना ही वैसा ही देता है उससे अधिक वा न्यून नहीं और इसमें जीव के ऊपर यह दया होती है कि वह आगे पाप करने से बचता है और दूसरे उसके द्वारा किए पाप कर्मों से कष्ट भोगने से बच जाते

हैं यह तभी सम्भव है जब जीव का दूसरा जन्म हो । अन्यथा परिमित पापों का अपरिमित नरक देना और परिमित पुण्यों का अपरिमित स्वर्ग देना यह अन्याय है जिसे ईश्वर पर आरोपित करना सर्वथा अनुचित है ।

3. विभिन्न योनियों का वैषम्य :– जगत् में हमें सब ओर वैषम्य दिखाई पड़ता है और साथ ही जीवधारियों में मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि विभिन्न योनियाँ दृष्टिगोचर होती है जिनके भोगों अर्थात् सुख और दुःख की मात्रा में भी अत्यधिक वैषम्य दिखाई देता है जब कि सब देहों में जीवात्मा एक सा ही है यह सब मानते हैं । ऐसा मानने पर यह स्वतः सिद्ध है कि इन योनियों और सुख दुःखादि के वैषम्य का कारण उनके पूर्व जन्म में किए कर्म होते हैं जिससे पुनर्जन्म की सिद्धि होती है ।

4. प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी पुनर्जन्म की सिद्धि होती है :– इस विषय में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीनों प्रमाण प्रमुख हैं जो पुनर्जन्म को सिद्ध करते हैं । प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में उन समस्त बच्चों के जीवन को प्रस्तुत किया जा सकता है जिन्हें पूर्वजन्म की स्मृति हो जाती है । हालांकि इस विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यह कहा है कि जो कोई पूर्वजन्म के वर्तमान को जानना चाहे तो भी नहीं जान सकता क्योंकि जीव का ज्ञान और स्वरूप अल्प है । यह बात ईश्वर के जानने योग्य है जीव के नहीं । इस कथन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि जीव अपने पूर्व जन्म के वृतान्त को नहीं जान सकता, यह बात सिद्धान्त रूप में सत्य है । किन्तु लोक में प्रत्येक सिद्धान्त में कुछ अपवाद भी होते हैं । दूसरे शब्दों में जो बात सब पर लागू नहीं होती और कुछ ही पर लागू होती है उसे सिद्धान्त रूप में न मानकर अपवाद रूप में माना जाता है । ठीक इसीप्रकार सिद्धान्त रूप में तो स्वामी दयानन्द का कथन सत्य है किन्तु पूर्व जन्म की घटनायें कुछ एक-दो बच्चों को स्मरण रही हैं । यह देखा और परीक्षा करके सत्य पाया गया है इसलिए यह अपवाद है । किन्तु ये अपवाद रूप घटनायें पुनर्जन्म की प्रबल समर्थक हैं ।

इसके अतिरिक्त दूसरा प्रमाण है अनुमान प्रमाण जिसमें कार्य के द्वारा

कारण, कारण के द्वारा कार्य तथा दो तत्त्वों में व्याप्ति सम्बन्ध के आधार पर एक को प्रत्यक्ष करके दूसरे को जाना जाता है। इस त्रिविध रूप अनुमान प्रमाण से भी पुनर्जन्म सिद्ध होता है। जैसे लोक में प्रायः देखा जाता है कि बच्चा जो अभी उत्पन्न हुआ है, वह माँ के स्तनों को पीने लगता है, पशुओं के बच्चे जल में स्वतः तैरने लगते हैं, आदि ऐसे कार्य हैं जो इनके कारण की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। पैदा होते ही स्तनपान की जो अभिलाषा है उसका कारण उसका पूर्वजन्म में किया हुआ भोजनाभ्यास है।

5. प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् :– मरकर पूर्वाभ्यासकृत दूध की अभिलाषा होने से (आत्मा का पुनर्जन्म सिद्ध है) क्योंकि जब प्राणी जन्म लेता है उसी समय बिना किसी की शिक्षा वा प्रेरणा के स्वयं दूध पीने लगता है। इस कार्य का कारण इस जन्म के भोजनाभ्यास को तो माना ही नहीं जा सकता क्योंकि इस जन्म में तो उसने भोजन का अभ्यास किया ही नहीं और बिना अभ्यास के प्रवृत्ति नहीं होती। अतः उस अभ्यास को जो इस जन्म के नवजात शिशु के दूध पीने की अभिलाषा का कारण है को पूर्व जन्म का ही माना जाना सम्भव है। इससे कार्य दूध पीने की अभिलाषा के आधार पर कारण पूर्व जन्म का भोजनाभ्यास का ज्ञान होता है जिसे शेषोदृष्ट अनुमान कहते हैं–

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धनात् जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्ते

पूर्व किये अभ्यास से बनी स्मृति के लगाव से उत्पन्न हुए (बालक) को हर्ष, भय, शोक की प्राप्ति होने से (पूर्वजन्म सिद्ध होता है)। स्तनपान की भाँति ही नवजात शिशु में हर्ष, भय, शोक आदि के लक्षण देखे जाते हैं जिनका कारण भी वर्तमान जन्म नहीं माना जा सकता वरन् इनका कारण पूर्व जन्म में इनका अभ्यास की हुई स्मृति से अनुबन्ध ही होता है जिससे जीवात्मा पुनर्जन्म सिद्ध होता है।

विभिन्न ग्रंथों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि इन में पुनर्जन्म सिद्धान्त है। इसका विवेचन इस प्रकार किया जाता है–

1. पुनर्जन्म और वेद :–

पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन् पुनःप्राणः
पुनरात्मा मऽआगन् पुनच्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽआगन् ।
वैश्वानरोऽअदब्धस्तनूपाऽअग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ।। (यजुर्वेद 4.15)

हे सर्वज्ञ ईश्वर ! जब हम जन्म लेवें तब हमको शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, प्राण, कुशलतापूर्वक जीवात्मा, उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों। सब पापों के नाश करने वाले आप हमको बुरे कर्मों और सब दुःखों से पुनर्जन्म में अलग रखें।

2. पुनर्जन्म और निरुक्त :–

मृतश्चाहं पुनर्जातो जातचाहं पुनर्मृतः ।
नानायोनि सहस्राणि मयोषितानि यानि वै ।।
आहार विविधा भुक्ताः पीता नाना विधाः स्तनाः ।
मातरो विविधा दृष्टा पितरः सुहृद्स्तथा ।। 14.6

मैंने अनेक बार जन्ममरण को प्राप्त होकर नाना प्रकार के हज़ारों गर्भाशयों का सेवन किया। अनेक प्रकार के भोजन किये अनेक माताओं के स्तनों का दूध पिया अनेक माता-पिता और सुहृदों को देखा है।

3. पुनर्जन्म और योगदर्शन :–

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः 2.9

हर एक प्राणियों की यह इच्छा नित्य देखने में आती है कि मैं सदैव सुखी बना रहूँ मरूं नहीं। यह इच्छा कोई भी नहीं करता कि मैं न होऊँ। ऐसी इच्छा पूर्वजन्म के अभाव में कभी नहीं हो सकती यह अभिनिवेश क्लेश कहलाता है जिसके द्वारा कृमि पर्यन्त को भी मरण का भय बराबर होता है यह व्यवहार पूर्वजन्म की सिद्धि को जनाता है।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्मवेदनीयः –योगदर्शन 2.12

वर्तमान और भावी जन्मों में पाने योग्य कर्म फलों का मूल अविद्यादि पंच क्लेश ही हैं।

4. पुनर्जन्म और न्यायदर्शन :–

पुनारूपत्तिः प्रेत्यभावः –न्यायदर्शन 1.1.19

इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि लिखते हैं जो उत्पन्न अर्थात् किसी

शरीर को धारण करता है वह मरण अर्थात् शरीर को छोड़ के पुनरुत्पन्न दूसरे शरीर को भी अवश्य प्राप्त होता है इस प्रकार मर कर पुनर्जन्म लेने को प्रेत्याभाव कहते हैं ।

प्रेत्यहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् —न्यायदर्शन 3.1.22

पूर्वजन्मों के कारण ही बालक में स्तनपान की अभिलाषा रहती है ।

5. पुनर्जन्म और गीता :–

गीता में भी पुनर्जन्म के कई स्थानों पर उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं जैसे–

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।। —2.22
बदलता है इन्साँ लिबास-ए-कुहन (पुराने वस्त्र)
नया जामा (वस्त्र) करता है फिर जेन-ए-तन
इसी तरह कालिब (शरीर) बदलती है रूह
नये भेस में फिर निकलती है रूह ।।

जैसे व्यक्ति पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को धारण करता है वैसे ही आत्मा पुराने शरीर का त्याग करके नया शरीर धारण करती है । क्योंकि शरीर क्षणभंगुर एवं नश्वर है ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।। —2.23
कटेगी न तलवार से आत्मा,
जलेगी कहाँ आग से आत्मा ।
न गीली हो पानी लगाने से यह
न सूखे हवा में सुखाने से यह ।।

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता एवं वायु सुखा नहीं सकती क्योंकि आत्मा, अजर, अमर और शाश्वत है ।

6. Life After Death—

अंग्रेज़ भी पुनर्जन्म सिद्धांत में विश्वास रखते हैं । जैसे फीगोर नामक लेखक अपनी विश्वविख्यात पुस्तक Life After Death में लिखते हैं—

मैंने परमात्मा के पास कोई प्रार्थनापत्र नहीं भेजा कि मुझे संसार में पैदा करो । फिर मुझे अकारण ही विपदाओं में क्यों फंसा दिया । क्या कारण है कि एक को अमेरिका जैसे शिक्षित स्थान में, तो दूसरे को अफ्रीका जैसे जंगली स्थान में पैदा किया । ये सब पूर्वजन्मों में किये हुए कर्मों का फल है ।

7. पुनर्जन्म और क़ुरान :—

क़ुरान में भी पुनर्जन्म सिद्धांत है जैसे क़ुरान में लिखा है—

जिस पर परमेश्वर कुपित हुआ उनमें से कुछ को वानर और सुअर बना दिया । —(5.9.4) (7.21.31)

उपरलिखित ग्रंथों के अतिरिक्त हम प्रतिदिन समाचार पत्रों में पढ़ते हैं कि अमुक बच्चा अपने पिछले जन्म का हालचाल बताता है और जब वह बच्चा अपने पिछले जन्म स्थान पर जाता है तो वह सत्य सिद्ध होता है । किसी-किसी बच्चे को ही कुछ समय के लिये पिछला जन्म याद होता है और ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता जाता है पिछले जन्म को भूलता जाता है । जैसे ''पूर्वजन्म स्मृति'' नामक पुस्तक में पिछले जन्मों की 35 घटनाओं का वर्णन किया गया है । इसी प्रकार डॉ. स्टीवसन ने संसार की 600 घटनाएं एकत्रित की है जिनसे पुनर्जन्म सिद्ध होता है ।

अन्ततः इतना ही कहना काफी होगा कि पुनर्जन्म होता है । परन्तु कुछ व्यक्ति ऐसा प्रश्न करते हैं कि यदि पुनर्जन्म होता है तो हमें उसका ज्ञान इस जन्म में क्यों नहीं रहता है । महर्षि दयानंद इसका उत्तर देते हैं क्योंकि जीव अल्पज्ञ है उसे तो इस जन्म की बातें याद नहीं रहती कि कुछ समय पूर्व में क्या-क्या हुआ था तो पूर्व जन्मों का कैसे याद रहेगा और यह भी परमात्मा की हम सब पर विशेष कृपा है कि हमें पूर्वजन्मों का याद नहीं रहता है नहीं तो हम पूर्वजन्मों के सुखों को याद कर-कर के ही दुःखी हो जायेंगे और उस सुख को

प्राप्त करने के लिये पुनः पूर्वजन्म स्थान में पहुँचेंगे, उससे बड़ी अव्यवस्था होगी। व्यक्ति को पूर्वजन्म की बातें याद नहीं है इसीलिये वह सुखी है। नहीं तो वह पिछले जन्म के सब दुःखों को याद करते ही मर जायेगा। अतः यह ज्ञान प्रभु के जानने योग्य है व्यक्ति के लिए नहीं। हमें अपने पिछले जन्म का ज्ञान नहीं है इसमें ही हमारा कल्याण है।

5. पंचमहायज्ञ–

पांच प्रमुख धार्मिक कृत्य जो नित्य प्रति किये जाने चाहिए पंचमहायज्ञ कहलाते हैं। ये निम्न प्रकार हैं–

(1) ब्रह्मयज्ञ (सन्ध्या) – यह दो प्रकार का है। सन्ध्या और स्वाध्याय। सन्ध्या प्रातः और सायंकाल की जाने वाली ईश्वर की आराधना है जिसमें ध्यान, धारणा तथा प्रार्थना के तत्त्वों का समावेश है। स्वाध्याय के अन्तर्गत शास्त्रों के किसी अंश का नित्य पाठ आता है।

(2) देवयज्ञ (हवन, अग्निहोत्र) – इसे होम के नाम से जाना जाता है जिसमें घृत तथा अन्य सुगन्धित पदार्थों को अग्नि में डाला जाता है। आर्यों का यह एक सर्वाधिक प्राचीन कृत्य है। आर्यों का कोई भी संस्कार किसी न किसी रूप में हवन के बिना पूर्ण हुआ नहीं माना जाता। इस क्रिया के अन्तर्गत वेद के जिन मंत्रों को पढ़ा जाता है वे इन ग्रंथों के सर्वोत्कृष्ट तथा उदात्त अंश हैं। एक आर्य का दिन होम के कृत्य से आरम्भ होना चाहिये जो उसके गृहस्थ को भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टियों से पवित्र कर देता है। वैदिक काल के इतिहास में कोई ऐसा युग नहीं था, जब इस यज्ञ प्रथा को त्यागा गया। वैदिक धर्म की अवनति के साथ-साथ प्रत्येक गृहस्थ द्वारा नित्य हवन किये जाने की प्रथा भी समाप्त हो गई है, उसी प्रकार जैसे अन्य दैनिक यज्ञ समाप्त हो गये।

(3) पितृयज्ञ – इस यज्ञ का अभिप्राय अपने माता-पिता की नित्य की जाने वाली सेवा से है, ऐसा न हो कि हम अपनी तथा अपने परिवार की देखभाल करते-करते माता-पिता के प्रति अपने कर्त्तव्य को विस्मृत कर बैठें।

राज्य द्वारा वृद्धावस्था में पैंशन मिलने की व्यवस्था के अभाव में यह प्रथा वृद्ध पुरुषों की रक्षा को सुनिश्चित कर देती है ।

(4) बलिवैश्वदेव यज्ञ (भूतयज्ञ) – मानव भी ग्राम्य पशुओं पर निर्भर रहता है । अतः दरिद्र, असहाय एवं अनाथ के प्रति भी उसका कुछ न कुछ कर्त्तव्य है । इस यज्ञ के विधान के अनुसार अपनी सामर्थ्य के अनुसार ऐसे ग्राम्य पशुओं, पक्षियों तथा दीन दुःखियों को भोजन प्रदान किया जाता है ।

(5) अतिथियज्ञ – किसी विद्वान् अथवा तपस्वी को जिसे पूर्व से आमंत्रित नहीं किया है अर्थात् जिसके आने की कोई तिथि न हो । भोजन कराना अतिथियज्ञ है । यह भी नैतिक कर्त्तव्य है । परन्तु देश को कानून व्यवस्था में ब्रह्मचारी विद्यार्थी तथा तपस्वी विद्वान् वानप्रस्थी की सहायता के लिये कोई व्यवस्थित संगठन बनाने का विधान नहीं है । गृहस्थियों से ही यह आशा की जाती है कि वे इन लोगों की देखभाल तथा सेवा करेंगे । अपनी व्यक्तिगत स्वार्थवृत्ति अथवा उपेक्षावृत्ति पर नियंत्रण रखने के लिए प्रत्येक गृहस्थी के लिये यह आवश्यक समझा गया है कि वह एक या दो उन छात्रों अथवा विद्वानों का भोजन से सत्कार करे जो धर्म प्रचार में संलग्न रहते हैं । ऐसे व्यक्ति जो विद्या प्रसार तथा धर्म प्रसार के कार्यों में लगे रहते हैं, उन्हें अपने परिजनों को भोजन कराने के पूर्व खिलाना तथा उनकी पूर्ण देखभाल करना एक पवित्र धार्मिक कर्त्तव्य समझा जाता था ।

प्राचीन वैदिक धर्म में सुव्यवस्थित तथा आर्थिक दृष्टि से सुगठित संस्थाओं की परिकल्पना नहीं थी, परन्तु वह प्रत्येक से यह अपेक्षा रखता था कि एक व्यक्ति अपने जीवन के आरम्भिक वर्ष अध्ययन में व्यतीत करे तथा अन्तिम वर्षों को धर्म प्रचार तथा मानव जाति की सेवा में बिताये । ऐसे लोगों के जीवन धारण का उत्तरदायित्व प्रत्येक गृहस्थी को एक या अधिक अतिथियों को भोजन कराने का कर्त्तव्य सौंप कर पूरा किया जाता था । यह स्वैच्छिक व्यवस्था ब्रिटिश गृहस्थों द्वारा स्कूली बच्चों को भोजन देने तथा

शिक्षा प्रदान करने के लिये एकत्रित किये जाने वाले अनिवार्य चन्दे से कहीं श्रेष्ठ है। पुनः गृहस्थों को यह भी आदेश दिया गया है कि वे स्वयं बाहर जाकर ऐसे अतिथियों को अपने घर पर लायें तथा उन्हें भोजन करायें ताकि वे स्वयं को दूसरों की दया का पात्र न समझें तथा लज्जा का अनुभव न करें।

(6) कर्मसिद्धांत –

यह वैदिक कर्मसिद्धान्त है कि जो व्यक्ति जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। जैसे तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' में लिखा है :–

करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फलु चाखा।। -अयोध्याकाण्ड 218. 2

इस संसार में कर्म ही प्राधान्य है जो जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। जैसे महाभारत एवं ब्रह्मवैवर्त पुराण में लिखा है–

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कव्य कोटिशतैपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभं।।

बिना भोगे हुए कर्मों का नाश करोड़ों कल्प तक भी नहीं होता है। शुभ-अशुभ कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। जैसे एक हिन्दी कवि के शब्दों में :–

बो के बीज दुःख के सुख कैसे पा सकोगे।
बोया पेड़ बबूल का तो क्या आम खा सकोगे।।
ईश्वर है न्यायकारी सब के कर्मों का फल दाता।
उससे किसी कर्म को कैसे छुपा सकोगे।।

परन्तु गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं :–

सर्वधर्मान् परित्यज्यन्य मामेकम् शरणम् व्रज।
अहम् त्वां सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। –18.66

सारे धर्मों का परित्याग करके तू मेरी तरह प्रभुशरण में आ जा। मैं तुझको सारे पापों से मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर।

प्रभुशरण में सुख, शान्ति एवं आनन्द तो मिलता है परन्तु किये हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है, क्योंकि कर्मफल को भोगे बिना उससे छुटकारा नहीं है। मन की आसक्ति परमात्मा में हो और कर्म इन्द्रियों द्वारा हो यही कर्मयोग है। परन्तु मुख्यतः हम इसके विपरीत कर्म करते हैं। हम मन की आसक्ति संसार में माता-पिता, भाई, बहन, पत्नी और बच्चों में लगाते हैं और इन्द्रियों से परमात्मा की भक्ति जैसे हाथों से कीर्तन करते हैं, कानों से प्रवचन सुनते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मुख्यतः हम तन परमात्मा में और मन संसार में लगाते हैं। यह मन ही बंधन एवं मोक्ष का कारण है।

यहाँ तक कि कुछ पौराणिक भाइयों का विचार है कि भगवत्प्राप्ति से सारे पाप भी माफ हो जाते हैं क्योंकि भगवत्प्राप्ति के पश्चात् कर्मयोगमाया से होते हैं जोकि फल नहीं देते। इसके अतिरिक्त यदि अभिमान रहित होकर कोई भी कर्म करे तो भी उसका फल नहीं भोगना पड़ता। इसी प्रकार ईसाई भाई कहते हैं कि ईसा पर ईमान लाने से और मुसलमान भाई कहते हैं कि हज़रत मुहम्मद साहिब पर ईमान लाने से कर्मफल समाप्त हो जाते हैं परन्तु यह सत्य नहीं है क्योंकि इससे संसार में पाप और बढ़ेंगे।

परन्तु वेदानुसार यह उचित नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति कर्म करने में पूर्ण स्वतंत्र है परन्तु उसके फल भोगने में ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार परतंत्र है। विधाता के आगे किसी का वश नहीं चलता है चाहे किसी भी देवी-देवता के आगे सर पटकिये, मन्नत कीजिए। अनेकों व्यक्ति तीर्थ स्थानों में जाकर देवी देवताओं की मन्नत करके वृद्ध हो गये। परन्तु संतान सुख नहीं मिला, न गूंगा बोल सका, न बहरा सुन सका, न जन्मांध देख सका, न कोई रोगी ठीक हुआ। परन्तु इन सब रोगों के लिए सब को दवाई लेनी पड़ती है। अतः प्रभुशरण से पापों से कभी भी मुक्ति नहीं हो सकती है। परन्तु किये हुए पापों पर पश्चाताप करने से पापों को सहन करने की शक्ति बढ़ जाती है और कामवासना की समाप्ति हो जाती है। भविष्य में पाप करने से बच जाता है,

पश्चाताप करने से पाप खत्म नहीं हो जाते, जो ऐसा मानते हैं उनकी यह बड़ी भारी भूल है। अतः व्यक्ति को अच्छे कर्म करने चाहिए। जैसे नत्था सिंह ''निर्दोष'' ने लिखा है :–

न भस्मी रमाने से, न रेशमी दुशालों से।
बंदा पहचाना जाता है, सिर्फ आमालों से।।

इसी प्रकार हिन्दी कवि राकेश जैन कितना सुन्दर लिखते हैं :–

आँखों की शोभा सुरमे से नहीं शर्म से होती है।
शरीर की शोभा शृंगार से नहीं कर्म से होती है।।
आप मानों या मत मानो, पर सच जानो।
जीवन की शोभा धन से नहीं धर्म से होती है।।

(7) वर्ण व आश्रम व्यवस्था–

आर्यसमाज वैदिक वर्ण-व्यवस्था को मानता है। व्यक्ति के गुण- कर्म-स्वभाव के आधार पर चार वर्ण ब्राह्मण - क्षत्रिय - वैश्य - शूद्र हैं। ये वर्ण मनुष्य के प्राकृतिक वर्गीकरण एवं दृष्टिकोण पर आधारित हैं, किसी के जन्म पर नहीं। महर्षि दयानन्द आर्योद्देश्यरत्नमाला में लिखते हैं–

वर्ण वह है जो गुण और कर्मों के योग से ग्रहण किया जाता है।

वर्तमान में दो प्रकार के लोगों का बाहुल्य है जिससे वर्ण-व्यवस्था व्यवहार में नहीं आ पा रही है। एक तो वे लोग है जो जन्माधारित जाति-व्यवस्था को मानते हैं। दूसरे वे हैं जो किसी वर्ण या जाति को नहीं मानते और मनुष्य के स्वाभाविक वर्गीकरण की उपेक्षा करते हैं। आर्यसमाज जाति प्रथा का उन्मूलन करके वैदिक वर्ण-व्यवस्था को लागू करने का पक्षधर है। किन्तु तीनों विप्र-वर्ण गुण-कर्म सुधारे बिना जन्माधारित दबदबे को बनाये रखना चाहते हैं और चतुर्थ वर्ण सरकारी सुविधायें प्राप्त करने के लिए जाति-प्रथा का प्रशंसक बन गया है। आर्य समाज का दृष्टिकोण इनसे अधिक वैज्ञानिक है किन्तु अनुकूल स्थिति बनने में समय लगना अपेक्षित है।

इसके अतिरिक्त आर्यसमाज की मान्यता है कि जिस प्रकार समाज के सन्तुलित विकास के लिए वर्ण-व्यवस्था आवश्यक है, उसी प्रकार व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए आश्रम-व्यवस्था आवश्यक है। वैदिक जीवन पद्धति में मनुष्य के जीवन की सम्पूर्ण अवधि को चार चरणों में विभाजित किया गया है। विद्याग्रहण की प्रथम अवधि ब्रह्मचर्य आश्रम, पारिवारिक एवं व्यावसायिक जीवन की दूसरी अवधि गृहस्थ आश्रम, परिवार एवं व्यवस्था छोड़कर मनन करने की तीसरी अवधि वानप्रस्थ आश्रम और ईश-समर्पण एवं समाज-सुधार की चौथी अवधि संन्यास आश्रम कहलाती है। महर्षि दयानन्द के अनुसार–

जिनमें अत्यन्त परिश्रम करके उत्तम गुणों का ग्रहण और श्रेष्ठ काम किये जाए उनको आश्रम कहते हैं।

आर्यसमाज की पद्धति से जीवन-यापन करने वाले व्यक्ति कष्ट उठाकर भी संन्यास आश्रम तक पहुँच रहे हैं किन्तु परिवारों में लोगों की लिप्तता बढ़ने, रोगों के बढ़ने और स्वतन्त्र भूमि के घटने के कारण संन्यासाश्रम की पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हो पा रही है जिसके लिए सामाजिक व्यवस्था में अनुकूल सुधार की अपेक्षा है।

(8) भक्ष्य-अभक्ष्य–

आर्यसमाज भक्ष्य-अभक्ष्य पर विशेष ध्यान देता है। सत्यार्थप्रकाश में 32 बार मांस-भक्षण निषेध व शाकाहार का निर्देश किया है। वेद में अनेक ऋचाओं में अन्न, वनस्पतियों, फलों व दूध घृत के सेवन का उपदेश व निर्देश है। आर्यसमाज के संस्थापक के प्रवचन सुनकर व उसके सद्ग्रन्थों को पढ़कर अनेक व्यक्तियों ने मांसाहार का त्याग किया। आर्यसमाज के आरम्भिक काल में आर्यसमाज में प्रवेश करते ही लोग मांसाहार छोड़ देते थे। मुन्शीराम लेखराम एवं महात्मा हंसराज आर्यसमाज के दोनों बलिदानी नेता पहले मांसाहारी थे। उन्होंने दृढ़तापूर्वक यह दुर्व्यसन छोड़ा।

अंग्रेज़ों ने ऋषि दयानन्द के पीछे एक गुप्तचर रायबहादुर मूलराज को नियुक्त किया। इसे ऋषि ने गोकरुणानिधि का अंग्रेज़ी अनुवाद करने को कहा। इसने पुस्तक लेकर रख ली और ऋषि के बार-बार कहने पर भी यह कार्य न किया। न तो महर्षि को मना किया और न ही यह कार्य किया। उसके मन में ही खोट था। भोले-भाले और निष्पाप ऋषि ने उस पर विश्वास किया परन्तु वह विश्वासघाती सिद्ध हुआ। इसके लाहौर आने से पूर्व आर्यसमाज में किसी ने मांस भक्षण की बात न कही। महर्षि के बलिदान के पश्चात् लाहौर आकर इसने आर्यसमाज में मांसाहार के प्रचार का झण्डा उठाया। कुछ बाबू साथ लगा लिये। इसने 1892 ई० में लाहौर समाज में अंग्रेज़ी में एक लैक्चर देकर मांसाहार के अभियान को तीव्र गति देनी चाही। इस लैक्चर से आर्यसमाज में फूट पड़ गई। अगले वर्ष पंजाब में प्रादेशिक सभा काग़ज़ों पर आ गई। मूलराज की अंग्रेज़ी साम्राज्य के प्रति यह स्वर्णिम सेवा थी कि उसने पंजाब में आर्यसमाज को दो फाड़ कर दिया। प्रादेशिक सभा कहती तो यही रही कि हमारा मत वही है जो महर्षि दयानन्द का है अर्थात् मांसाहार वेदविरुद्ध है परन्तु प्रादेशिक सभा का अस्तित्व डी०ए०वी० कॉलेज कमेटी की दया पर रहा है। कमेटी में सदा मांसाहारियों का ही वर्चस्व रहा है।

यह दारुण दुर्भाग्य की बात है कि दयालु दयानन्द द्वारा स्थापित आर्यसमाज में एक मांस पार्टी बन गई। ला० लाजपतराय जी ने ठीक ही लिखा है कि यदि महात्मा हंसराज पहले ही मांस छोड़ देते तो आर्यसमाजों में फूट न पड़ती परन्तु इतिहास में अगर-मगर किन्तु-परन्तु के लिए कोई स्थान नहीं होता। हर्ष का विषय है कि आज सारे विश्व में शाकाहार का आन्दोलन फैल रहा है। विश्वप्रसिद्ध वैज्ञानिक मांसाहार को स्वास्थ्य के लिए घातक मान रहे हैं। प्राकृतिक चिकित्सा, योग व प्राणायाम की प्रबल लहर से भी विश्व में बहुत जागृति आई है। इस कारण से भी शाकाहार का प्रचार बढ़ा है। यह ऋषि दयानन्द की एक दिग्विजय है। आर्यसमाज यह मानता है कि आहार का मन व आत्मा पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। मांसाहार से व्यक्ति के संस्कार

बिगड़ते हैं। संस्कारों के दूषित होने से व्यक्ति का व्यवहार आचरण बिगड़ जाता है। पशुओं की निर्मम हत्या से आकाश उनकी चीत्कार से भर जाता है। इससे वातावरण में भाव प्रदूषण होता है। विश्व-शान्ति कैसे हो जबकि सूर्यादि से पूर्व ही मनुष्य क्रूरतापूर्वक लाखों जन्तुओं का संहार कर दें? कैंसर आदि भयंकर रोगों का एक मुख्य कारण मांसाहार है। यह आज विज्ञान की खोज का सार है।

मनुष्य स्वभाव से मांसाहारी नहीं है। यह तो संगत व संस्कारों के बिगड़ने से मांस, अण्डे का सेवन करने लगता है। बाइबल व क़ुरान के अनुसार भी मनुष्य की उत्पत्ति अदन के उद्यान में हुई। वहाँ इसे ईश्वर ने अन्न, फल व वनस्पतियों का सेवन करने का आदेश दिया था। वहाँ कोई बूचड़ की दुकान तो थी नहीं। प्रभु कृपा से मानव जाति ऋषि दयानन्द का सन्देश सुनकर मांसाहार का पाप छोड़कर कल्याण-मार्ग पर अग्रसर होगी।

(9) मूर्तिपूजा की अमान्यता–

बुतपरस्तों का है दस्तूर निराला देखो।
खुद तराशा है मगर नाम ख़ुदा रखा है।।
हर गुल (फूल) में हर शजर (वृक्ष) में,
हर शै (वस्तु) में हर बशर (व्यक्ति) में।
गर तू न देखे उसको, तो है कसूर तेरा।।

वेदों, उपनिषदों, शास्त्रों, मनुस्मृति, रामायण, महाभारत, गीता, भागवतपुराण, क़ुरान, श्रीगुरुग्रंथसाहिब आदि ग्रंथों में मूर्तिपूजा का विधान नहीं है। जैसे–

1. मूर्तिपूजा और वेद :– महर्षि दयानंद सरस्वती जी के अनुसार चारों वेदों में 20416 मंत्र हैं और एक भी मंत्र में मूर्तिपूजा का विधान नहीं है। जैसे–

न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्यशः –यजुर्वेद 32.3

उस परमात्मा की कोई आकृति नहीं है जिसके नाम का महान्यश है। इस प्रकार इस मंत्र में अवतारवाद की कल्पना का कैसा स्पष्ट खण्डन है। यह

वेद विरुद्ध होने के कारण आर्यसमाज के लिए अमान्य है। इसी विषय में नारायण प्रसाद ''बेताब'' जी की एक कविता प्रस्तुत की जाती है–

अजब हैरान हूँ भगवन ! तुम्हें कैसे रिझाऊँ मैं ।
न कोई वस्तु ऐसी है, जिसे सेवा में लाऊँ मैं ।।
करूँ किस तरह आवाहन, कि तुम सर्वत्र व्याप्त हो ।
निरादर है बुलाने को, अगर घंटी बजाऊँ मैं ।।
तुम्हीं हो मूर्ति में भी, तुम्हीं व्यापक हो फूलों में ।
भला भगवान् को भगवान् पर कैसे चढ़ाऊँ मैं ।
लगाना भोग कुछ तुमको, ये एक अपमान करना है ।
खिलाता है जो सब जग को उसे कैसे खिलाऊँ मैं ।
तुम्हारी ज्योति से रोशन हैं सूरज, चाँद और तारे ।
महा अन्धेर है तुमको, अगर दीपक दिखाऊँ मैं ।
भुजाएँ हैं न गर्दन हैं, न सीना है, न पेशानी ।
तू है निर्लेप नारायण कहाँ चन्दन लगाऊँ मैं ।
बड़े नादान है जो जन गढ़ते हैं आप की मूरत ।
बनाया विश्व को तुमने तुझे कैसे बनाऊँ मैं ।।

(10) अवतारवाद की अमान्यता–

जन्म मरण से रहित है निश्चय वह करतार ।
नियमबद्ध वह प्रभु है लेता नहीं अवतार ।।

दयानन्द खोल गए पाखंडियों की पोल,
व्यर्थ में पीट रहे अवतारवाद का ढोल ।
ईश्वर कभी जन्म मरण के बन्धन में नहीं आता,
इसको कोई क्यों नहीं समझ पाता । –लालचंद चौहान

अवतार शब्द का अर्थ है उतरना। परन्तु उतर तो वह सकता है जोकि एक देशी हो या किसी विशेष स्थान पर बैठा हो। इसलिए अवतार शब्द का प्रयोग सर्वव्यापक परमात्मा पर लागू नहीं होता क्योंकि जो सर्वव्यापक है वह न तो किसी स्थान से उतर सकता है और न ही किसी विशेष स्थान पर बैठ

सकता है । अतः महर्षि वेद व्यास जी लिखते हैं–

जन्माद्यस्य यतः । वेदांत दर्शन 1.1.2

परमात्मा वह है जो सृष्टि को बनाता है, स्थिर रखता और बिगाड़ता है । अतः धर्मसभा के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए महर्षि दयानंद जी ने कहा था–

जिनको आप परमेश्वर का अवतार कहते हैं वे ईश्वरावतार तो थे नहीं, किन्तु बड़े उत्तम पुरुष थे । वे परमेश्वर की आज्ञा में चलने वाले थे । वे सत्य, न्याय आदि गुणों से अलंकृत और वेदशास्त्र के पूर्ण विद्वान् थे । उन जैसा उत्तम पुरुष न पहले हुआ और न अब है । आप उन उत्तम पुरुषों को ईश्वरावतार मानते हैं । यह आपकी भारी भ्राँति है । जो अजर, अमर और सर्वव्यापक है वह यह अवतार धारण नहीं कर सकता । जो सर्वत्र परिपूर्ण है उसे अवतार धारण करने की आवश्यकता ही क्या है? अवतार लेने से सर्वत्र परिपूर्ण नहीं रह सकता । यदि कहो कि दुष्टों को दंड देने के लिये परमेश्वर यह धारण करता है तो यह भी अयुक्त है । जो बिना देह के सृष्टि उत्पत्ति, पालन और प्रलय करता है । क्षुद्र कार्य के लिये उसके काया धारण की कल्पना करना कितना तुच्छ और मिथ्या विचार है ।

निष्कर्षतः यही कहना उचित होगा कि अवतारवाद, एक कोरा ढोंग एवं पाखंड है । वस्तुतः इसके विषय में ''न भूतो न भविष्यति'' की उक्ति पूर्णतः चरितार्थ होती है । अतः ईश्वर का अवतार न तो भूतकाल में कभी हुआ, न ही वर्तमान में होता है और न कभी भविष्य में भी होगा । अतः अवतारवाद भी वेद विरुद्ध होने के कारण आर्यसमाज के लिये अमान्य है । पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय लिखते हैं–

राम, कृष्ण को ऐतिहासिक महापुरुष समझकर उनका जीवनचरित्र पढ़ो और उनके आचरणों का अनुसरण करो । परन्तु उनकी मूर्ति बनाकर उनको ईश्वर के स्थान में मत पूजो क्योंकि ईश्वर के स्थान पर अन्य का पूजना पाप है ।

–अवतार पृ० 16

पं० सतपाल 'पथिक' जी ने 'भगवान् का अवतार' नामक कविता में अवतारवाद के विषय में लिखा है–

होता कभी भगवान् का अवतार नहीं है ।
इससे किसी विद्वान् को इनकार नहीं है ।
जो समझता है ईश्वर किसी मनुष्य को ।
वह समझ लीजिये कि समझदार नहीं है ।
जो काम करता है प्रभु उस काम के लिये ।
औरों की मदद का वह तलबगार नहीं है ।
दीपक पुजारी हाथ में लेकर के यों कहो ।
पत्थर है लोगों देख लो दातार नहीं है ।
कैसे बना ली आदमी ने 'पथिक' ये मति ।
ईश्वर तो निराकार है साकार नहीं है । ।

(11) आर्यसमाज का शुद्धि आन्दोलन–

शाब्दिक दृष्टि से शुद्धि का अर्थ है पवित्रीकरण, परन्तु आर्यसमाजी लोग इसे धर्म में पुनः प्रविष्ट होने तथा प्रविष्ट कराने के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं । वैदिक सम्प्रदाय होने के कारण आर्यसमाज हिन्दू संगठन ही है । अतः इसका प्रयोजन उन लोगों को हिन्दू धर्म में पुनः प्रवेश दिलाना है, जो इस धर्म से पृथक् हो चुके हैं । इसके अतिरिक्त कोई अन्य भी इस धर्म में आस्था रखते हुए प्रवेश पा सकता है । शुद्धि के दायित्व को ग्रहण कर लेने के कारण आर्यसमाज को मुसलमान, मुल्लाओं तथा ईसाई पादरियों के साथ सीधे संघर्ष में उतरना पड़ा है । कट्टरपंथी मुसलमान और ईसाई शुद्धि कार्य को घृणा की दृष्टि से देखते हैं । यहाँ तक कि गम्भीर विचारों वाले मौलवी तथा उदारमना ईसाई भी इसे पसन्द नहीं करते । फिर भी अन्य धर्मों में गये हिन्दुओं को स्वधर्म में प्रविष्ट कराने में आर्यसमाज को पर्याप्त सफलता मिली है तथा उसने हिन्दुओं के धर्मान्तर प्रवेश को रोक दिया है । आर्यसमाज की सर्वाधिक सफलता तो हिन्दुओं में विद्यमान दलित जातियों की सामाजिक स्थिति को सुधारने तथा उन्हें हिन्दू धर्म को त्याग कर अन्य धर्मों में प्रवेश करने से रोकने में है । हिन्दू धर्म में इस पुनः प्रवेश के सम्बन्ध में आगरा एवं अवध के जनगणना आयुक्त का कहना है–

जो लोग हिन्दू धर्म को त्याग कर ईसाई या मुसलमान बन गये थे उन्हें पुनः

हिन्दू बनाने के विशेष प्रयत्न किये गये हैं—तथा जो जन्मना ईसाई या मुसलमान हैं उन्हें भी हिन्दू धर्म में प्रविष्ट कराने के प्रयत्न प्रायः आर्यसमाज द्वारा किये गये हैं।

महर्षि दयानंद ने शुद्धि आंदोलन का आरम्भ किया था। परन्तु स्वामी श्रद्धानन्द ने तो हज़ारों व्यक्तियों को शुद्ध किया था। इसके पश्चात् अनेकों आर्य वीरों ने शुद्धि आन्दोलन को आगे बढ़ाया जिनमें से पं० लेखराम और स्वामी श्रद्धानन्द मुख्य हैं। पंडित लेखराम ने हज़ारों व्यक्तियों को शुद्ध किया। यहाँ तक कि 6.3.1897 ई० को लाहौर में एक मुसलमान ने जोकि उनके पास शुद्ध होने के बहाने आया था उनको उसी मुसलमान ने शहीद कर दिया। इसी प्रकार स्वामी श्रद्धानंद ने भी हज़ारों व्यक्तियों को शुद्ध किया और 23.12.1926 ई० को देहली में एक मुसलमान शुद्ध होने के लिए उनके पास आया और उसे तीन गोलियाँ मार दी। इस प्रकार स्वामी श्रद्धानंद जी भी शहीद हो गये। असगरी बेग़म की जिसको स्वामी जी ने शुद्ध करके शांति देवी बनाकर अपनी धर्मपुत्री बनाया की श्रद्धांजलि सुनिए—

वैदिक धर्म का डंका स्वामी बजा गये हैं।
मुर्दा दिलों को स्वामी जिन्दा बना गये हैं।
तर्जे अमल हमारा हम को बता गये हैं।
कर्त्तव्य अपना पालन करना सिखा गये हैं।
सारी उम्र गुजारी थी खिदमतें धर्म में।
सेवा यह आखरी भी स्वामी निभा गये हैं।
बाग़े धर्म को सींचा अपने लहू से आखिर।
कुर्बानियों का करना हमको सीखा गये हैं।
ख़ुद हो गये अमर वो जाति में डाल दी जां।
वैदिक धर्म की खिदमत करना बता गये हैं।
हॉ वृथा न हरगिज जायेगा खून उनका।
वो जानशीन हमको अपना बता गये हैं।
हँस हँस के जान देना सीखेंगे इस तरह से।
अपना लहू बहाकर हमको दिखा गये हैं।

इस्लाम के जुल्म की तांईद में मुसलमा ।
स्वामी का खून बहाकर मोहर लगा गये हैं ।

हम देखते हैं कि आजकल शुद्धि आन्दोलन बहुत ही कम हो गया है । आर्यसमाज विद्वानों को चाहिये कि इस ओर ध्यान देकर इसको तेज करें ताकि शुद्ध कार्य अधिक से अधिक हो सकें ।

(12) भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद का समन्वय–

आर्यसमाज भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद के समन्वय की मान्यता प्रदान करता है । मानव जीवन की सफलता के लिये दोनों ही आवश्यक हैं । भौतिकवाद का अर्थ है बाहर की ओर जाना और अध्यात्मवाद का अर्थ है भीतर की ओर जाना । भौतिकवाद का अर्थ है प्रभाव और अध्यात्मवाद का अर्थ है स्वभाव । भौतिकवाद में क्षणिक सुख तो है परन्तु सच्ची शान्ति व आनन्द केवल अध्यात्मवाद में ही है । जैसे आचार्य श्री सुदर्शन लिखते हैं–

कितना भी धन संग्रह कर लो, मन में शान्ति नहीं होती ।
भरलो हीरा मोती घर में किसी कफ़न के जेब नहीं होती । ।

–संगीतमय रामकथा (उत्तरकाण्ड पृ० 715)

6. आर्यसमाज के मुख्य हुतात्मा

1. वीर चिरंजीलाल

आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द ने धर्म की बलिवेदी पर अपने प्राण न्यौछावर कर दिये। उनके बलिदान से आर्यों को धर्मप्रचार व धर्मरक्षा के लिए हँसते-हँसते कष्ट सहन करने की प्रबल प्रेरणा मिली। विश्व इतिहास में आर्यसमाज ही एक ऐसा धार्मिक संगठन है जिसे अपने जीवन के पृथक् एक सौ वर्षों में इतने बलिदान देने का सौभाग्य प्राप्त है। महर्षि दयानन्द के पश्चात् वीर चिरंजीलाल ने 1893 ई० में वीरगति पाई। उन्हें भी विषपान करने का सुयश प्राप्त हुआ। आधुनिक काल में धर्म-प्रचार करते हुए उन्हें सर्वप्रथम कारागार की यातनाएँ भोगने का गौरव प्राप्त हुआ। महात्मा मुन्शीराम जी ने उनका अभियोग लड़ा और उन्हें कारागार से छुड़वाया।

वे एक निर्भीक सत्यवक्ता थे। तप, त्याग एवं तपस्या की मूर्ति थे। बड़े लगनशील थे। धर्म प्रचार करते हुए उन्हें असह्य कष्ट सहने पड़े। कई बार प्राणाघातक वार किये गये परन्तु वह अडिग रहे। उनकी माता की मृत्यु पर उनके विरोधियों ने उनका प्रचण्ड बहिष्कार किया। शव को कन्धा देने वाला दूसरा कोई व्यक्ति नहीं था। वह फिर भी न डगमगाये। लुधियाना उनका केन्द्र था। यहीं ऋषि के प्रवचन-व्याख्यान सुनकर वैदिक धर्मी बने थे। उनकी वाणी में ओज था, रस था और सत्य कहने का उनमें बड़ा साहस था।

2. पंडित लेखराम

ऋषि दयानन्द जी ने बलिदान के 14 वर्ष पश्चात् पं० लेखराम ने 6-3-1897 ई० में वीरगति प्राप्त करके आर्यसमाज की कीर्ति को चार चाँद लगा दिये। आपका जन्म आठ चैत्र संवत् 1915 ई० को ग्राम सैदपुर जिला झेलम में हुआ था। 1881 ई० में अजमेर में ऋषि दर्शन किये। आप पुलिस विभाग की नौकरी पर लात मार कर धर्मप्रचार के विस्तृत क्षेत्र में कूद पड़े। आप उर्दू, फारसी, अरबी के विद्वान् थे। बड़े तार्किक और अध्ययनशील थे। अद्भुत लेखक व ओजस्वी वक्ता थे। आपकी ज्ञानप्रसूता वाणी व लेखनी ने

लाखों नर-नारियों के जीवन पलट दिये।

आप उर्दू-फारसी के कवि भी थे। बेजोड़ शास्त्रार्थ महारथी एक आदर्श सुधारक व धर्म-प्रचारक थे। प्राण तली पर धर कर कई बार धर्मच्युत हो रहे हिन्दुओं, सिखों को विधर्मियों से बचाया। उनके व्याख्यान सुनकर कई विधर्मी शुद्ध होकर वैदिक धर्म में दीक्षित हुए। अदम्य उत्साह से पाखण्ड खण्डन करते थे। वैदिक सिद्धान्तों के मण्डन व विधर्मियों के प्रहार का उत्तर देते हुए कई मौलिक पुस्तकें लिखीं। आर्य गज़ट उर्दू के सम्पादक रहे।

मिर्ज़ा गुलाम अहमद कादियानी ने श्रीराम, कृष्ण, माता कौशल्या, वेद, उपनिषद् व गऊ पर घृणित वार किये तो उसे उसके घर पर जाकर ललकारा। मिर्जा ने मौत की धमकियाँ दीं। परन्तु पं० लेखराम शीश तली पर धरकर धर्म प्रचार में संलग्न रहे। एक पाजी शुद्ध होने का बहाना बनाकर उनके पास आया। छल से पण्डित जी के पेट में छुरा घोंप दिया। 6-3-1897 को आपने हँसते-हँसते लाहौर में नश्वर देह का त्याग किया। मुहम्मदिया पाकेट पुस्तक के विद्वान् लेखक मौलाना अब्दुल्ला मेमार के अनुसार पं० लेखराम 'कोहे वकार' गौरव-गिरि था और हत्यारा छलिया, क्रूर व कायर था जिसे मिर्ज़ा ने बार-बार फ़रिश्ता लिखा है।

3. स्वामी श्रद्धानन्द–

23-12-1926 ई० को आर्यसमाज के सर्वमान्य नेता स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज को देहली में अब्दुल रशीद नाम के एक पाजी कायर ने पिस्तौल के 3 फायर करके धर्म की बलिदेवी पर शीश चढ़ाने का शुभ अवसर प्रदान कर दिया। स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज एक कर्मयोगी थे। सारा जीवन अविराम संग्राम किया। वे कथनी करनी से एक थे। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के सूत्रधार के रूप में देश-विदेश में धूम मचा दी। भारतीय स्वाधीनता संग्राम में देहली के चाँदनी चौंक में गोराशाही की संगीनों के आगे सीना खोलकर एक इतिहास बना डाला।

सब करणीय कार्यों को प्रोत्साहित करते रहे। दलितोद्धार, शुद्धि-आन्दोलन में वे अग्रणी रहे। जाति-बन्धन तोड़ने के लिए दूसरे के लिए आदर्श

बने। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार में सबसे आगे रहे। केरल में अस्पृश्यता-निवारणार्थ वायक्कुम सत्याग्रह का नेतृत्व किया। सिखों के जत्थेदार बनकर जेल में गये। उन जैसा तेजस्वी, प्रतापी व बलिदान नेता इस देश व आर्यसमाज को फिर नहीं मिला। लाला लाजपतराय के देश से निष्कासन के समय जब उनके घनिष्ठ मित्रों—डी०ए०वी० कॉलेज कमेटी के लोगों के डर के मारे लाला जी से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया तो आतंक के उस युग में महात्मा मुन्शीराम ने डटकर लाला जी का पक्ष लिया। अगले दस वर्षों तक आर्यसमाज पर विपदा के बादल मण्डराते रहे, महात्मा मुन्शीराम ने बड़ी निडरता से तब आर्यसमाज का नेतृत्व किया। वे एक बार भी तब अंग्रेज़ शासकों के द्वार पर गिड़गिड़ाने नहीं गये। उस महाप्रतापी संन्यासी का जीवन भी शानदार था और उनको उस जीवन के अनुरूप ही शानदार मृत्यु प्राप्त हुई।

स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के गौरवपूर्ण बलिदान का स्मरण करते समय हम उनके निजी सचिव श्री धर्मपाल विद्यालंकार तथा उनके सेवक भक्त प्रवर वीर धर्मसिंह की वीरता का स्मरण किये बिना नहीं रहे सकते। जब हत्यारे ने स्वामी पर छल से फायर किये तो गोलियों की आवाज़ सुनकर साहसी धर्मसिंह ने आकर उसे दबोच लिया। उसने धर्मसिंह पर भी दो फायर किये। धर्मसिंह की जांघ पर एक गोली लगी। इतने में स्नातक धर्मपाल जी कायर क्रूर हत्यारे को नीचे पटक कर उसकी छाती पर तब तक बैठे रहे जब तक कि पुलिस न आ गई।

4. रामचन्द्र—

भारत में दलितोद्धार के लिए व अस्पृश्यता के उन्मूलन के लिए महर्षि दयानन्द के शिष्यों ने जो दुःख कष्ट झेले हैं उनको शब्दों में बता पाना कठिन है। आज राजनीति में दलित वोट बैंक के लिए घड़याली आँसू बहाने वाले तो कई राजनैतिक दल व नेता हैं परन्तु देश में दलितोद्धार के लिए सर्वप्रथम रोपड़ के आर्यनेता वीर सोमनाथ की माता ने सन् 1900 से थोड़ा पहले प्राणों

की आहूति दी फिर जम्मू राज्य के एक आर्य युवक वीर रामचन्द्र ने अस्पृश्यता निवारण व दलितोद्धार के लिए घोर यातनायें सहते हुए अद्‌भुत साहस का परिचय दिया।

आप बड़े कर्मठ देशसेवक आर्यवीर थे। देश के स्वाधीनता संघर्ष में कांग्रेस की सेवा में भी सक्रिय रहे। उनको दिन-रात राज्य के मेघ भाइयों को शिक्षित करने की धुन लगी रहती थी। मेघ बिरादरी के लोग अपने सरल शुद्ध व्यवहार के लिए भक्त कहलाते हैं। रामचन्द्र ने इनमें आर्यसमाज का प्रचार किया और पाठशालायें खोलीं।

पोंगापंथी अज्ञानी जाति अभिमानी राजपूतों ने इनके सुधार कार्यों का कड़ा विरोध किया। बहुत कष्ट दिये। यह पीछे नहीं हटे। व्याकुल नहीं हुये। 14-1-1923 ई० को राजपूतों ने कुछ मुसलमानों के साथ मिलकर वीर रामचन्द्र पर प्राणघातक आक्रमण किया। आपके साथ और भी कई आर्य घायल हुए। 20 जनवरी को जम्मू के अस्पताल में आपने नश्वर शरीर का त्याग कर दिया।

5. महाशय राजपाल–

महाशय राजपाल जी का जन्म अमृतसर के एक साधारण परिवार में आषाढ़ 5, संवत् 1942 को हुआ। आपके पिता अर्जीनवीस थे। आपके बाल्यकाल में ही आपके पिता जी का निधन हो गया था। आप उस समय स्कूल में पढ़ते थे। आप कर्तव्य परायण और परिश्रमी थे। आपने अध्यवसाय के बल पर उर्दू की किताबों का काम शुरू कर दिया। आगे चल कर आप एक हकमी के पास लेखक का काम करने लगे। आपमें लिखने-पढ़ने की लगन थी। आप आर्यसमाज की भावनाओं से ओतप्रोत थे। 1906 में आप महात्मा मुंशीराम के सद्धर्म प्रचारक (उर्दू) के कार्यालय में क्लर्क लग गए। वहाँ आपके स्वाभाविक लेखकीय गुणों का विकास हुआ। आप हँसमुख थे। आप लाहौर आ गए। वहाँ पर महाशय कृष्ण जी के उर्दू साप्ताहिक 'प्रकाश' के मैनेजर हो गए। आपकी सच्चाई और मेहनत से महाशय जी बहुत प्रभावित हुए। 'प्रकाश' के प्रबन्ध कार्य के साथ-साथ आप पुस्तक प्रकाशन का भी

कार्य करने लगे। आपके प्रकाशन ने पुस्तक भण्डार का रूप धारण कर लिया। उसका नाम 'सरस्वती आश्रम' और 'आर्य पुस्तकालय' रखा गया।

आपने आर्यसमाज के विद्वानों से मौलिक पुस्तकें लिखवाई और प्रकाशित कीं। उन दिनों ''कृष्ण तेरी गीता जलानी पड़ेगी'', ''उन्नीसवीं सदी का महर्षि'' नामक दो पुस्तकें प्रकाशित हुई थी। उसमें ऋषि के जीवन पर अनुचित आक्षेप किए गए थे। उक्त पुस्तक के जवाब में महाशय राजपाल जी के सरस्वती पुस्तकालय की ओर से 'रंगीला रसूल' नाम की पुस्तक प्रकाशित हुई। पंजाब सरकार ने इस पुस्तक को छापने पर आपके ऊपर आपराधिक मुक़द्दमा चलाया। मुक़द्दमा लम्बा चला। राजपाल जी निडर होकर डटे रहे। आपको क़त्ल करने की धमकियां दी गई। राजपाल जी शान्तिप्रिय व्यक्ति थे। अतः उन्होंने निर्णय किया कि वे इस पुस्तक का दूसरा संस्करण प्रकाशित नहीं करेंगे। फिर भी आप पर आक्रमण होते रहे और अन्त में 6-4-1929 ई० को एक धर्मान्ध युवक इल्मदीन ने आपकी हत्या कर दी। महाशय राजपाल जी का धर्म के लिए बलिदान सदा स्मरण किया जाएगा। हम महाशय जी को श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं।

उनके बलिदान पर पंजाब के प्रसिद्ध उर्दू पत्रकार व कवि नानकचन्द 'नाज' की कविता उस समय के जोश का स्मरण कराती है—

फ़ख्र से सर उनके, ऊँचे आस्मां तक हो गए।
हिन्दुओं ने जब तेरी अरथी उठाई राजपाल
फूल बरसाए शहीदों ने तेरी अरथी पै खूब।
देवताओं ने तेरी 'जय-जय' बुलाई राजपाल,
मैंने देखा कि हज़ारों राजपाल उठने लगे।
दोस्तों ने लाश तेरी जब जलाई राजपाल।।

7. आर्यसमाज की उपलब्धियाँ

कार्य और विस्तार–

नवीनतम सूचना के अनुसार आर्यसमाज के कार्य और उनका मूल्यांकन करना कोई आसान कार्य नहीं है। अपने स्थापना दिवस सन् 1875 से लेकर आज तक जो कुछ भी उपलब्ध हो सका है उसे श्रीरामनाथ जी सहगल, मन्त्री, श्री महर्षि दयानन्द सरस्वती, स्मारक ट्रस्ट, टंकारा द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया जाता है।

1. इस सारे विश्व में 6000 आर्य समाजें हैं। इनमें 5000 आर्य समाजें भारत वर्ष में और 1000 विदेशों में है।
2. 200 के लगभग जिला प्रान्तीय तथा जिला उप सभायें हैं।
3. आर्य वीर दल की 550 से भी अधिक शाखायें भारत, नेपाल, अफ्रीका, ट्रिनीडाड, मॉरीशिस, गुयाना, फीजी, सुरीनामा, ब्रिटिशगण राज्य, अमरीका, कनाड़ा आदि देशों में सक्रिय हैं।
4. 200 से अधिक आर्य कुमार/कुमारी सभायें हैं।
5. आर्य समाज द्वारा प्रायः 900 कॉलेज व हाई स्कूल संचालित हैं।
6. 2500 से अधिक प्राइमरी व मिडल स्कूलों में बालक- बालिकायें अध्ययन कर रहे हैं।
7. पूरे देश में 90 गुरुकुल आर्य पद्धति से चल रहे हैं इनमें सहशिक्षा नहीं अपितु बालक-बालिकाओं के पृथक्-पृथक् गुरुकुल हैं।
8. 500 से अधिक संस्कृत विद्यालय और धर्मार्थ औषधालय हैं।
9. 20 से अधिक टेक्नीकल शिक्षा देने वाली संस्थाएं हैं।
10. 250 से अधिक अनाथालय, वृद्धआश्रम ओर गौशालायें हैं।
11. 900 से अधिक अतिथि भवन, छात्रावास और व्यायामशालाएं हैं।
12. 340 से अधिक प्रेस पत्र-पत्रिकायें वाचनालय और पुस्तकालय हैं।

13. प्रायः 3200 आर्य संन्यासी व्याख्यान देने वाले उपदेशक तथा भजनोपदेशक प्रचार कार्य में संलग्न हैं ।

14. आर्यसमाज में पंजीकृत सदस्यों की संख्या बेशक 25 लाख है परंतु आर्यसमाज की विचारधारा से प्रभावित लोगों की संख्या 15 करोड़ से कम नहीं है ।

15. 15 लाख छात्र-छात्रायें आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं में शिक्षा अर्जित कर रहे हैं । इन संथाओं पर प्रतिवर्ष एक अरब 50 करोड़ से भी अधिक रुपया व्यय होता है । इसमें डी०ए०वी० संस्थायें भी सम्मिलित हैं ।

उपरोक्त आंकड़ों को देखकर क्या आर्यसमाज का मस्तिष्क गौरव से ऊँचा नहीं हो जायेगा ? क्या यह पढ़कर हृदय हर्ष से नहीं उछल रहा होगा ।

—आर्यजगत् 13-5-2012 से 19-5-2012

8. विदेशों में आर्यसमाज

महर्षि दयानन्द के जीवन काल में ही पश्चिमी जगत् में आर्यसमाज की चर्चा आरम्भ हो गई थी। ऋषि दयानंद के पश्चात् मुनिवर पं० गुरुदत्त विद्यार्थी के विचारोत्तेजक साहित्य व लेखों का योरुपीय विद्वानों पर विशेष प्रभाव पड़ा। पं० गुरुदत्त की 26 वर्ष की आयु में मृत्यु हो गई। इस कारण पश्चिम में वैदिक विचारधारा के प्रसार की योजना को गहरा धक्का लगा। पं० लेखराम जी अंग्रेज़ी नहीं जानते थे तथापि उनकी लेखनी ने अमरीका में हलचल पैदा की। उनके बलिदान पर एक अमरीकन पत्रिका में उन पर एक लेख भी छपा था। मध्य एशिया में उनके साहित्य ने वैदिक धर्म में विचारशील लोगों की रुचि जगाई। 1893 ई० में शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन में वैदिक धर्म का प्रतिनिधि भेजने के लिए पं० आर्यमुनि जी व पं० लेखराम जी को भेजने का कुछ आर्यों को ध्यान आया। लेख भी छपे परन्तु न तो किसी ने धन-संग्रह और न किसी अनुवादक की व्यवस्था की गई। आर्यसमाज तभी संस्थावाद के बीच में फंसकर भवनों के लिए चन्दा करने की ओर अग्रसर हो रहा था।

विदेशों में सबसे पहले ऋषि दयानन्द का सन्देश पहुँचाने का सौभाग्य पं० गुरुदत्त की धरती मुलतान डिविजन के जिला मुजफ़्फ़रगढ़ के दो आर्य वीरों को प्राप्त है। वे थे लाला जेन्दाराम एवं लाला सिद्धूराम। ये दोनों कोर्ट में प्रार्थना पत्र लिखते थे। उपदेशक न होते हुए भी अपने पुरुषार्थ से, मिशनरी भावना से सन् 1893 के उस विश्व धर्म सम्मेलन के अवसर पर अमरीका पहुँचे थे। पं० गुरुदत्त की पुस्तकें रटकर वहाँ भाषण देकर मान सम्मान पाया। डॉ० जेंदाराम ने वहाँ एक मासिक पत्र भी निकाला। इनके प्रभाव प्रेरणा से एक अमरीकन प्रकाशक ने पं० गुरुदत्त के उपनिषदों का एक संस्करण छापा। श्री लक्ष्मीनारायण बैरिस्टर एवं लाला रोशनलाल बैरिस्टर ने 1887 ई० में लंदन में आर्यसमाज की स्थापना करके अद्भुत कार्य किया। वे दोनों उच्च शिक्षा के लिए लंदन गये थे। मैक्समूलर ने 7.7.1888 ई० को श्री लक्ष्मीनारायण को एक महत्वपूर्ण पत्र लिख कर आर्यसमाज के आन्दोलन से अपनी सहानुभूति व रुचि की अभिव्यक्ति करके अपनी बदली मानसिकता का परिचय दिया।

इससे पूर्व स्काटलैण्ड के पीटर डेवडसन ने महर्षि दयानन्द को सूचना

दी कि मैंने मांस-भक्षण व सुरापान का परित्याग कर दिया है। उसने महर्षि से योगाभ्यास सीखने की इच्छा प्रकट की थी। 20वीं शताब्दी में वैदिक विचारधारा को विदेशों में पहुँचाने व फैलाने की एक विलक्षण प्रयास प्राणपुरी नाम के एक तेजस्वी प्रतापी ब्रह्मचारी ने किया। संन्यास धारण करके यह संन्यासी किसी संस्था की सहयता के बिना ही दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों में भ्रमणार्थ निकल गये। आपने 1901 से 1904 ई० तक लगभग साढ़े तीन वर्ष मलेशिया, जापान, चीन आदि देशों में अपने ढंग से धर्मप्रचार किया। यही प्राणपुरी आगे चलकर स्वामी स्वतन्त्रतानन्द के नाम से आर्य-जगत के सर्वमान्य नेता के रूप में जाने लगे। इनके पश्चात् देवता स्वरूप भाई परमानन्द जी 1905 में अफ्रीका प्रचारार्थ गये। उनके तप, त्याग, लगन एवं योग्यता का वहाँ जाकर बसे भारतीयों पर गहरा प्रभाव पड़ा। भाई जी के पश्चात् तो अफ्रीका, योरुप, अमरीका व एशिया महाद्वीप के देशों में जहाँ-जहाँ भी भारतीय श्रमिक, व्यापारी व विद्यार्थी पहुँचे, वहाँ उन सब देशों में आर्यसमाज के मिशनरी वेद-प्रचार के लिए पहुँचे। इस पुस्तक में विदेशों में आर्यसमाज के प्रचार का इतिहास देना तो सम्भव नहीं है। विदेशों में महर्षि दयानन्द के सन्देश को पहुँचाने व सुनाने वाले कुछ बहुत विशेष व्यक्तियों का नामोल्लेख ही किया जा सकता है।

आर्यसमाज के धर्मयोद्धा यदि धर्मप्रचार के लिए विदेशों में न जाते तो वहाँ जाकर बसे हुए भारतीय मूल के व्यक्ति निश्चित् रूप से ईसाई एवं मुसलमान बन जाते। आर्यसमाज विदेशियों को तो अपने संगठन का अंग बनाने में विफल ही रहा परन्तु मारिशस, फ़िजी आदि देशों में बसे भारतीय आज भी वैदिक धर्मी हैं। तो इसका सारा श्रेय आर्यसमाज के उन मिशनरियों को जाता है जिन्होंने 20वीं शताब्दी के आरम्भ में वहाँ वैदिक नाद बजाया। साधनों के अभाव में डॉ० चिरंजीव जी भारद्वाज, स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी महाराज, देवतास्वरूप भाई परमानन्द जी महाराज व मेहता जैमिनि ने इस पथ पर चलने के लिए अनेक दुःख कष्ट झेले थे।

दक्षिण अफ्रीका में वैदिक धर्म के मिशनरियों को आमंत्रित करने वाले महाशय मोहकमचन्द जी वर्मा को कौन भूल सकता है। वह पसरूर ज़िला स्यालकोट के मूल निवासी थे। पं० लेखराम के व्याख्यान सुनकर दृढ़ वैदिकधर्मी बने थे। पूर्वी अफ्रीका में आर्यसमाज के प्रचार व संगठन के लिए महात्मा बद्रीनाथ की सेवाएँ अविस्मरणीय रहेंगी। वे गुरु विरजानन्द की

जन्म-स्थली करतारपुर में जन्मे थे। आपने ऋषि-दर्शन करने का भी सौभाग्य प्राप्त किया था। पं० लेखराम जी व महात्मा मुन्शीराम जी के उपदेश सुनकर सच्चे व पक्के आर्य बन गये। मारिशस में डॉ० मणिलाल बैरिस्टर की सेवाएं स्वर्णअक्षरों में लिखने योग्य हैं। महाशय तोताराम, श्री जगमोहन सिंह, गुरुप्रसाद जी, श्री मस्तासिंह व महाशय प्रताप सिंह मारिशस से आर्यसमाज की नींव के पत्थर कहे जा सकते हैं।

अब जिन विद्वान् मिशनरियों ने विदेशों में वैदिक धर्म की पताका फहराई उनमें से कुछ मूर्धन्य महापुरुषों का नामोल्लेख करके हम इस चर्चा को समाप्त करेंगे। यहाँ यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि देश के स्वतन्त्र होने के पश्चात् तो विदेशों में धर्म प्रचार के नाम पर अनेक सज्जन गए व जाते रहते हैं। परन्तु हमें यह स्वीकार करने में तनिक भी संकोच नहीं कि अब आर्यसमाज के पास भाई परमानन्द जी, स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी, मेहता जैमिनी जी, पं० अयोध्या प्रसाद जी, पं० चमूपति जी, स्वामी अभेदानन्द जी, पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय व स्वामी सत्यप्रकाश जी सरीखे प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् मिशनरियों का अभाव है।

मेहता जैमिनी को हम विदेशों में वैदिक धर्म प्रचार करने वाले आर्य मिशनरियों में आर्य उपदेशकों का राजकुमार कह सकते हैं। जहाँ कहीं एक भी भारतीय कार्यरत था, वह उस देश व उस नगर में महर्षि का सन्देश लेकर पहुँच गए। उनका स्वाध्याय गम्भीर एवं गहन था। कई भाषाएँ जानते थे। उनकी व्याख्यान-शैली रोचक व निराली थी। स्वतः प्रेरणा से विदेशों में प्रचारार्थ अनेक बार गये। सब महाद्वीपों में गए।

स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज तीन बार पूर्वी अफ्रीका गए। मारिशस व बर्मा में भी आपने प्रचार किया। श्री भाई परमानन्द जी ने दक्षिण अफ्रीका, बर्मा व अमरीका तथा इंग्लैंड में प्रचार किया। डॉ० चिरंजीव जी ने अपने अध्ययन-काल में भी इंग्लैंड में वेद प्रचार के लिए अदम्य उत्साह दिखाया। डॉ० दौलत राम जी आठ वर्ष तक जर्मनी व कुछ अन्य योरुपीय देशों में रहे। आपने श्री स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी महाराज के सहयोग से सत्यार्थप्रकाश का जर्मन भाषा में अनुवाद करवाकर छपवा दिया। स्वामी शंकरानन्द जी ने भी इंग्लैण्ड अमरीका में प्रचार किया। आपका अंग्रेज़ी भाषा पर अच्छा अधिकार था। आप एक तेजस्वी संन्यासी थे। डॉ० खानचन्द देव जी अमरीका में उच्च शिक्षा प्राप्त करने गए। आपने वहाँ कई नगरों में वैदिक धर्म पर व्याख्यान दिए।

पं० ईश्वरचन्द्र जी विद्यालंकार, महाशय सुखदयाल अमरीका पढ़ने गए। पादरियों से वहाँ वार्तालाप व शास्त्रार्थ भी किए। डॉ० लक्ष्मी नारायण बैरिस्टर ने शिकांगो एवं न्यूयार्क में प्रचार किया। आप ऋषि के जीवन काल में ही आर्य बन गये थे। आपका महर्षि के नाम लिखा एक पत्र भी मिलता है। डॉ० केशवदेव शास्त्री ने तीन वर्ष अमरीका में रहकर वैदिक धर्म की धूम मचा दी। प्रेस में भी इनकी बड़ी चर्चा होती रही। सन् 1933 ई० में सार्वदेशिक सभा ने शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन में श्री डॉ० बालकृष्ण जी तो सम्मेलन के पश्चात् भारत लौट आये, परन्तु पं० अयोध्याप्रसाद जी दक्षिण अमरीका में प्रचार के लिए रुक गये। पं० सत्यचरण जी एम०ए० इनके पश्चात् अमरीका प्रचारार्थ भेजे गये।

लाला लाजपतराय जी अपने निष्कासन के दूसरे काल में लगभग 3 वर्ष तक अमरीका में रहे परन्तु उन्होंने वहाँ वैदिक धर्मप्रचार में कोई रुचि न ली। पं० पूर्णानन्द जी, पं० चमूपति जी, पं० बुद्धदेव विद्यालंकार, आचार्य रामदेव जी, ठाकुर प्रवीणसिंह, पं० बालकृष्ण मुम्बई, पं० रलाराम महात्मा आनन्दभिक्षुजी, स्वामी ध्रुवानन्द जी,स्वामी अभेदानन्द जी, स्वामी मंगलानन्द जी, पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, पं० महारानी शंकर जी व डॉ० भगतराम जी मारिशस व अफ्रीका में प्राचारार्थ गये। डॉ० भगतराम जी तो योरुप के भी कई देशों में प्रचारार्थ गये। वे बहुत प्रभावशाली वक्ता थे। मेहता रामचन्द्र शास्त्री की वेद-प्रवचन शैली का अफ्रीका में बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। मारिशस में स्वामी विज्ञानानन्द जी की सेवाओं को भुलाया नहीं जा सकता। आचार्य चमूपति जी का अफ्रीका में माधवाचार्य जी से एक शास्त्रार्थ हुआ। आर्यसमाज के विरोधी भी आचार्य चमूपति का उत्तर सुनकर मुग्ध हो गये। पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय व उनके सुपुत्र डॉ० सत्यप्रकाश ने विदेशों में वेद-प्रचार किया। डॉ० सत्यप्रकाश जी तो कई बार कई देशों में गये।

पिछले कुछ वर्षों में जो विद्वान् प्रचारार्थ विदेशों में गये उनमें आचार्य वैद्यनाथ, स्वामी जगदीश्वरानन्द व स्वामी दीक्षानन्द जी का नाम उल्लेखनीय है। श्री महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज भक्तिरस की गंगा को प्रवाहित करने कई देशों में गये। आपके त्याग, आकर्षक व्यक्तित्व व मधुर स्वभाव का सर्वत्र गहरा प्रभाव पड़ा। आप अमरीका, योरुप व अफ्रीका महाद्वीपों में एक से अधिक बार आमन्त्रित किये गये। एशिया के भी कुछ देशों में प्रचार किया। हालैण्ड में कई गुरुकुलों के स्नातक वहाँ बस गये हैं। वहाँ की भाषा में आर्य साहित्य का प्रकाशन हो रहा है। अब तो विदेशों में योग व धर्म-प्रचार

के नाम पर जानेवालों में एक होड़-सी लगी है, परन्तु मेहता जैमिनी व पं० अयोध्याप्रसाद सरीखे योग्य व प्रभावशाली व्यक्तित्व ही कुछ छाप छोड़ सकते हैं। विदेशी भाषाओं में आर्यसमाज का साहित्य न होने से भी आर्यसमाज विदेशियों तक नहीं पहुँच सका। आर्यसमाज के दूरदर्शी विद्वान् नेता पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय ने अर्द्धशताब्दी पूर्व आर्य जनता का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। आपने प्रचार व साहित्य की समस्या पर सैकड़ों लेख लिखे परन्तु संगठन का ढांचा ही कुछ ऐसा हो गया और नेतृत्व ऐसे लोगों ने हाथ में आ गया जो न गहरा सोच सकते हैं और न ही दूर तक देख सकते हैं।

शिकागो के डॉ. सुखदेव सोनी जोकि प्रकृति से उदार एवं दानशील हैं। उन्होंने दो गिरजाघर खरीदकर एक में आर्यसमाज की स्थापना करके वैदिक धर्म का प्रचार-प्रसार करने एवं करवाने हेतु दान दिया है तथा दूसरे गिरजाघर में राष्ट्रीय हिन्दू स्वयं सेवक संघ की स्थापना करके अमेरीका में हिन्दुओं को संगठित करने का सराहनीय प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त वे आर्य प्रतिनिधि सभा अमेरीका की स्थापना करके अपार धनराशि का दान देकर भारत एवं अमेरीका के अनेक संस्थानों का भरणपोषण कर रहे हैं। वस्तुत उनका कार्य अत्यंत श्लाघनीय है।

श्री देव महाजन ने आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना और इसके कार्यों को बढ़ाकर एक सराहनीय कार्य किया है। आपने-अपने दिवंगत पिता जी द्वारा स्थापित आर्य समाज ह्यूस्टन के कार्य को बहुत बढ़ाया है और स्कूल की स्थापना करके दिन-रात प्रगति में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान कर रहे हैं।

श्री धरेन्द्र शर्मा अपने दिवंगत पिता धर्मवीर जिज्ञासु के मार्ग पर चलकर आर्यसमाज की सेवा में तत्पर हैं। यहाँ तक कि आपने भारत एवं अमेरीका में कई आर्यसमाज की स्थापना की है। अतः आप का आर्य समाज की प्रगति में स्तुत्य योगदान है।

अतः इस दिशा में कोई ठोस प्रगति नहीं हो पा रही। लोगों में तो सर्वत्र भूख भी है और वेदामृत से प्यास बुझाने की इच्छा भी है। जिस दिन आर्यसमाज में कोई नया श्रद्धानन्द, नया मेहता जैमिनी एवं कोई आनंदस्वामी, गंगाप्रसाद उपाध्याय जन्म लेगा तो फिर वेद-प्रचार का आन्दोलन सारे संसार में खूब होगा।

9. आर्यसमाज में सुधार के मुख्य उपाय

मैं आर्यसमाज में 1942 ई० से जा रहा हूँ और विगत 60 वर्षों से लेखन कार्य भी कर रहा हूँ। इसके अतिरिक्त 42 पुस्तकें भी लिख चुका हूँ और विगत कई वर्षों से अब तक अनेक पुस्तकें भारत के विभिन्न आर्यसमाजों पुस्तकालयों एवं स्वाध्यायशील व्यक्तियों को बाँट भी चुका हूँ। कभी-कभी आर्यसमाजों में जाकर निःशुल्क प्रवचन भी करता हूँ। मैं संसार के सारे आर्यसमाजों के लिए निम्नलिखित कुछ सुधार एवं सुझाव देता हूँ तथा आर्यसमाजों के अधिकारियों से सविनय निवेदन भी करता हूँ कि इन्हें अपने-अपने आर्यसमाजों में लागू करें ताकि भविष्य में आर्यसमाजों को शानदार सफलता प्राप्त हो सके।

1. आर्यसमाजों में जो भी मंत्र अथवा श्लोक बोलें उसका हिन्दी में अर्थ अवश्य करें। क्योंकि साधारण व्यक्ति को संस्कृत समझ में नहीं आती है। हम देखते हैं कि ईसाई बाइबल पर प्रवचन करते हैं तो उसी भाषा में प्रवचन करते हैं जो साधारण व्यक्ति भी समझ सके। इसी प्रकार मुसलमान भाई भी क़ुरान के हिन्दी भाषा में अनुवाद करके ही बोलते हैं। जैसे आप ने स्वस्तिवाचन के मंत्र बोले हैं चाहे आप सारे मंत्र न बोल कर केवल 5 मंत्र अर्थसहित बोलें। मैंने देखा है कि आर्यसमाजों में विशेष अवसरों पर केवल संस्कृत बोलकर ही पाठ किया जाता है जिसके कारण साधारण व्यक्ति उन्हें समझ नहीं पाता है।
2. एक विद्वान् प्रत्येक रविवार को 'सत्यार्थप्रकाश' जोकि महर्षि दयानंद की कालजीय कृति है उसकी व्याख्या करके श्रोताओं को समझायें।
3. संन्ध्या तो प्रत्येक व्यक्ति को प्रातः सायं अपने घर में करनी चाहिये क्योंकि यह व्यक्तिगत प्रार्थना है। आर्य समाजों में जो संन्ध्या की जाती है उसका श्रोतागणों को कोई विशेष लाभ नहीं पहुँचता है। यदि वे इसे घर पर ही करें तो अधिक लाभ होगा। सामूहिक संन्ध्या तो केवल वेदपाठ बन कर रह जाती है।
4. आज के अधिकतर आर्यसमाज केवल वेदमंदिर बन कर रह गये हैं। कृपया इन्हें वेद मंदिर न बनाकर एक आंदोलन ही रहने दो।

समाज में फैले हुए अनेक अंधविश्वासों, बुराइयों जैसे छुआछूत, नशा, बालविवाह, विधवा विवाह, दहेज प्रथा, वेश्यागमन आदि को दूर करने का प्रयत्न करें जिससे एक अच्छा समाज बन सके। संस्कार चैनल पर प्रातःकाल प्रतिदिन आर्यसमाज के कार्यक्रम आते हैं परन्तु ये पर्याप्त नहीं है।

5. आर्य समाज का एक पृथक् चैनल होना चाहिए ताकि आम जनता को आर्यसमाज के विषय में जानकारी हो सके। जनता की आर्यसमाज के सिद्धान्तों एवं मान्यताओं के विषय में रुचि बढ़े।
6. प्रत्येक आर्यसमाजी को अपने लिये ही नहीं अपितु मानवता के परोपकार के लिये जितना भी हो सके तन-मन-धन से सेवा करनी चाहिये। तभी आर्यसमाजों में सुधार हो सकेगा।
7. आर्यसमाज एक धार्मिक संस्था है। अतः इसे राजनीति से अलग रखिए। आज इसके अधिकारी एवं कार्यकर्ता चुनाव में पदों के लिये लड़ते-झगड़ते हैं और कईं बार तो कोर्ट में भी चले जाते हैं। आर्यसमाजों में ऐसा नहीं होना चाहिए।
8. कुंवर सुखलाल आर्य मुसाफिर ने लिखा है कि हम आर्यसमाजी अपनी ओर क्यों नहीं झांकते। उसने तो अपना सारा जीवन समाज में फैली कुरीतियों, अन्ध-विश्वास, पाखण्ड, अवतारवाद, सतीप्रथा, अनमेल विवाह, भूत -प्रेत, ग्रह पूजा, मूर्तिपूजा, जन्मपत्री, छुआछूत, फलित ज्योतिष के विरुद्ध लड़ने में लगा दिया था। वे कर्मकाण्ड के घोर विरोधी थे। इन गुरुकुल और संस्कृत प्रेमियों ने आर्यसमाज को पौराणिक मन्दिरों से भी कहीं अधिक पाखण्ड का घर बना दिया। आज आर्यसमाज संस्कृत की पाठशाला व कर्मकाण्ड का केन्द्र बन कर रह गये हैं।
9. वेद पढ़ने का अर्थ है भाव को समझो और उसका प्रयोग अपने जीवन और समाज को सुधारने के लिए करो। परन्तु आर्यसमाजों में हो क्या रहा है? वेदों के कई दिन तक चलने वाले यह सामवेद, यजुर्वेद यज्ञ होते हैं, जिनका भाव शायद करने वाला भी नहीं समझता। दस बारह व्यक्ति यह मानकर कि ईश्वर सब समझ रहा है, स्वाहा स्वाहा करते रहते हैं। अरे भाई! जिसे आप ही नहीं समझ पाये उसे ईश्वर क्या समझेगा। ईश्वर तो भावना को

समझता है। यही नहीं इस यज्ञ को पढ़ने के लिए पण्डित दूसरे शहरों से बुलाये जाते हैं। ये हज़ारों में अपनी फीस लेकर जाते हैं।

हमारे विद्वान् चण्डीगढ़ में बम्बई से आ रहे हैं। यदि आप के अपने पण्डित ही इस यज्ञ को नहीं कर सकते तो आम व्यक्ति क्या समझेगा और क्या करेगा। दूसरा इसमें क्या फर्क पड़ता है कि एक ही मंत्र को एक अजमेर या मुम्बई से आया पण्डित पढ़े या कोई दूसरा संस्कृत जानने वाला पढ़े। या फिर मंत्र न पढ़ कर उसका भाव किसी भी भाषा में जाने जोकि आप समझ सकते हैं। यह पाखण्ड और अंधविश्वास और दूसरों को मूर्ख बनाना नहीं तो और क्या है? मैं चाहूंगा कोई भी आर्यसमाजी मेरी बात का उत्तर दे। आज आपके आर्यसमाज पौराणिक मन्दिरों से कहीं अधिक पाखण्ड और कर्मकाण्ड के अड्डे हैं। हम दलितों तक पहुँचे उन्हें अपने वैदिक धर्म का अटूट अंग होने का विश्वास दिलायें। जो हमारे पास पैसा आता है, उसे ग़रीबों की समस्याएं हल करने पर लगायें। जहाँ उनके जीने के साधन नहीं, साधन बना कर दें, स्कूल खोल कर दें। आपके यज्ञ का ब्रह्मा यह बड़ी-बड़ी दक्षिणा लेने वाले न हों परन्तु उसके स्थान पर किसी दलित शूद्र को ब्रह्मा बनाये। जैसा कि एक समय में आर्यसमाजी करते थे और जैसे कि कंवर सुखलाल आर्य 'मुसाफिर' लिखते हैं–

जिन्हें संसार में संसार का उपकार करना था।
जिन्हें दुनियाँ में वैदिक धर्म का विस्तार करना था।
अनाथों और अछूतों का जिन्हें उद्धार करना था।
जिन्हें निजदेश और जाति का बेड़ा पार करना था।
उन्हें देखो बाहम बरसरे पैकार (खुल्लम खुल्ला युद्ध) बैठे हैं।
समाजों को मिटाने के लिए तैयार बैठे हैं।।

अतः आज आर्यसमाजों में पं० गुरुदत्त, पं० लेखराम, स्वामी श्रद्धानंद, महात्मा हंसराज आदि जैसे त्यागी तपस्वी व्यक्तियों की आवश्यकता है तभी आर्यसमाजों में सुधार होगा।

10. आर्यसमाज का भविष्य

आर्यसमाज एक प्रगतिशील संस्था है । इस का भूतकाल बड़ा शानदार रहा है । ऋषि दयानन्द ने इसे एक कालजयी संस्था के रूप में स्थापित किया था । इस का मुख्य लक्ष्य छठे नियम के अनुसार संसार का उपकार करना है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक तथा सामाजिक उन्नति करना । आर्यसमाज वेद को ईश्वरीय ज्ञान के ग्रंथ मानता है जिसमें ''कृण्वन्तो विश्वामार्यम'' का उपदेश दिया गया है । अर्थात् संसार को आर्य बनाओ । अतः आर्यसमाज का आन्दोलन सदा चलता रहना चाहिये । महर्षि दयानन्द ने कहा था कि मैंने आर्यसमाज को किसी नये मत अथवा पंथ के रूप में स्थापित नहीं किया । मेरा धर्म तो वेद के अनुसार सत्य सनातन वैदिक धर्म है जो ब्रह्मा ऋषि से जैमिनी मुनि तक चलता आया है । इसी धर्म के प्रचार के लिये मैंने आर्यसमाज बनाया है ।

इसलिये आर्यसमाज के नेताओं को वैदिक धर्म की दीक्षा देनी चाहिये तथा जनगणना तथा अन्य सब जगह अपना धर्म वैदिक ही लिखना-लिखाना चाहिये तथा अपना आचरण वैदिक सिद्धान्तानुकूल ही बनाना चाहिये । ऐसा करने से ही आर्यसमाज जीवित रहेगा क्योंकि धर्म और मत तो सदा चलते रहते हैं । इसलिए वैदिक धर्म की स्थापना सब जगह होनी आवश्यक है । आर्यसमाज के समकालीन ब्रह्म समाज, देव समाज तथा प्रार्थना समाज काल का ग्रास बन चुके हैं । कहीं आर्य समाज का भी यह हाल न हो जाये इसलिए वैदिक धर्म की दीक्षा सब लोगों को देना आवश्यक है । इस समय आर्यसमाज में कुछ ऐसे लोग घुस आये हैं जो पदों के लिए झगड़े कर रहे हैं और कोर्ट में मुकद्दमेबाजी तक कर रहे हैं जो अनुचित हैं इनसे सावधान रहना चाहिये ।

कुछ समय से आर्यसमाज के प्रचार का कार्य ढीला पड़ गया है । मीडिया में महर्षि दयानंद तथा आर्यसमाज का नाम तक नहीं है । आर्यसमाज का नाम तक नहीं है । आर्यसमाज का कोई टी.वी. चैनल नहीं है तथा न कोई

दैनिक समाचार पत्र है। जबकि पाखंड और अंधविश्वास फैलाने वाले बहुत है।

श्री पूनम सूरी जो महात्मा आनन्द स्वामी के पौत्र हैं डी०ए०वी० तथा आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के प्रधान बने हैं वह बड़े कर्मठ व्यक्ति हैं। उन से आर्य जनता को बहुत आशायें हैं। वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार आवश्यक है। इस बारे में किसी से डरने की आवश्यकता नहीं कि लोग नाराज़ हो जायेंगे। हमारे पूर्वज आर्य नेताओं तथा संन्यासी विद्वानों ने अनेक कष्ट सहकर भी वेद का प्रचार किया था। इसलिये वेद प्रचार के लिये आर्यसमाज का टी०वी० चैनल होना आवश्यक है। श्री पूनम सुरी जी को इस विषय में गंभीरता से विचार करना चाहिये।

केवल बड़े-बड़े सम्मेलन करने से ही उन्नति नहीं होगी। दिल्ली में पिछले दिनों दो बड़े आर्य महासम्मेलन हो चुके हैं। आर्यसमाज को पंडितों का वकील रोगियों का डॉक्टर और सोते हुए का चौकीदार बनाओ। केन्द्रीय आर्य युवक परिषद जिसकी स्थापना 3.6.1978 को हुई थी तथा जिसके अध्यक्ष डॉ० अनिल आर्य जी हैं ने भी जनवरी महीने में तीन दिन का आर्य महासम्मेलन किया था। परन्तु इन सम्मेलनों के बाद क्या आर्य समाज की उन्नति हुई है कृपया विचार करें। पुराने सदस्य दिवंगत हो रहे हैं नये बन नहीं रहे इस तरह आर्य समाज कब तक चलेगा। साप्ताहिक सत्संगों में हाजिरी घटती जा रही है।

देश उद्धार और समाज सुधार कार्य आर्यमाज के बिना कौन करेगा? इसलिये आर्यसमाज को जागृत होकर कार्य करने की आवश्यकता है। सब आर्य जन अपने कर्तव्य को पहिचाने यह मेरा सविनय निवेदन है। मैं आर्य समाज को उन्नति के शिखर पर देखना चाहता हूँ। में अपनी आयु के 80 वर्ष व्यतीत कर चुका हूँ। आर्य प्रतिनिधि सभाओं के चुनाव सम्बन्धी झगड़े तभी समाप्त होंगे अगर इन्हें ट्रस्ट की तरह चलाया जाये।

आओ उठो जागो अपने कर्त्तव्य का पालन करो तभी आर्यसमाज का भविष्य उज्ज्वल होगा।

अंततः एक हिन्दी कवि का 'आर्यसमाज क्या है? ' नामक कविता प्रस्तुत की जाती है–

है यह केवल आर्यसमाज, भलाई सब की चाहने वाला ।
ईश्वर का जो वेदज्ञान, सकल जग में फैलाने वाला । ।
हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आपस में हैं सारे भाई ।
मज़हबों ने जो विष फैलाई, इससे दूर हटाने वाला ।
काटे मज़हबी सब जंजाल, झूठे बहमों के सब ख़्याल ।
कर दे ज्ञान से मालामाल, तिमिर अज्ञान मिटाने वाला । ।
पत्थर पूजा है अज्ञान, इससे मिलता नहीं भगवान् ।
अविद्या से हो दुःख महान्, ज्ञानप्रकाश फैलाने वाला । ।
छूतछात न करें कराये, जातपात के भेद भुलाये ।
सारे अन्धविश्वास मिटाये, सद् उपदेश सुनाने वाला । ।
ऋषि दयानन्द थे ब्रह्मचारी, देश हितेषी पर उपकारी ।
सब दुनियाँ के बन हितकारी, सत् मार्ग दिखाने वाला । ।
सब को सुमति दे भगवान्, बने हम सच्चे सब इन्सान ।
सारे विश्व का हो कल्याण, ऐसे भाव सिखाने वाला । ।
प्राणिमात्र से प्रेम सिखाता, मज़हबी घृणा दूर हटाता ।
ओ३म् ईश्वर का नाम जपाता, सेवक है गुण गाने वाला । ।

लेखक द्वारा प्रकाशित एवं निःशुल्क वितरित पुस्तकों की सूची :–

1. रामचरितमानससार
2. गीतासार
3. उपनिषद्सार
4. सत्यार्थप्रकाशसार
5. भक्ति
6. सुखीजीवन
7. आत्मबोध
8. वेदवाणी
9. वैदिकसाहित्य
10. अमृतवाणी
11. महर्षि दयानंद
12. स्वामी विवेकानंद
13. शरणागति
14. वैदिक रामायण
15. क्या आप जानते हैं ?

लेखक द्वारा अप्रकाशित पुस्तकों की सूची :–

1. वैदिक उपनिषद्वाणी
2. वैदिक दर्शनवाणी
3. वैदिक महाभारत
4. वैदिक गीता
5. अमर धर्मग्रंथ
6. अमर नीतिग्रंथ
7. पुराणपरिचय
8. ईश्वरसिद्धि
9. राष्ट्रभाषा हिन्दी
10. मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम
11. महावीर हनुमान
12. योगिराज श्रीकृष्ण
13. आदिशंकराचार्य
14. आचार्य चाणक्य
15. दस गुरु
16. आर्यसमाज के महामानव
17. स्वामी रामतीर्थ
18. संस्कार
19. शेर-ओ-शायरी
20. गीतांजलि
21. आर्यसमाज
22. ओ३म्
23. गायत्रीरहस्य
24. ज्ञानामृत
25. यज्ञ
26. संत
27. संतवाणी
28. सामान्य हिन्दी (भाग I-II)
    (सब कक्षाओं के लिये)
29. **Great Thoughts**
30. **General English (Part I to V)**
    (For All Classes)